णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स

भगवान् महावीर का अन्तिम उपदेश

श्री उत्तराध्ययन सूत्र

[पद्यानुवाद]

अनुवादक :

आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक :

श्री शशिकान्त झा शास्त्री

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल

जयपुर

प्रस्तुत रचना में सूत्र की मूल गाथाओं का अविकलभाव लेने का ध्यान रखा गया है। मूल गाथा का कोई शब्द एवं उसका भाव न छूटे इसके लिए सतत सतर्कता रखने पर भी प्रमादवश सम्भवतः कहीं कोई शब्द छूटा हो तो "समादधतु सज्जनाः" इस वचनानुसार विद्वद्जन उसका समाधान करेंगे।

ब्रह्मचर्य अध्ययन में गद्य का पद्यानुवाद करने में छन्द बदला गया है। अन्य अध्ययनों में प्रायः एक ही प्रकार के उपरोक्त तर्ज हैं।

सम्पादन कार्य में प० शशिकान्त जी ने अनुवाद में लालित्य और रोचकता लाने का जो निष्ठापूर्वक श्रम किया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। जैन समाज के हर घर में हर स्वर में भ० महावीर का यह प्रस्तुत उपदेश "रामायण" की तरह प्रतिदिन पठन-पाठन में स्थान प्राप्त करे और प्रत्येक भारतवासी महावीर के उपदेशों का सरलता से ज्ञान प्राप्त कर सके, यही भावना इस पद्यानुवाद के मूल में सन्निहित है।

प्रस्तुत रचना में सूत्र की मूल गाथाओं का अविकलभाव लेने का ध्यान रक्खा गया है। मूल गाथा का कोई शब्द एवं उसका भाव न छूटे इसके लिए शक्य सतर्कता रखने पर भी प्रमादवश सम्भवतः कहीं कोई शब्द छूटा हो तो "समादधतु सज्जनाः" इस वचनानुसार विद्वद्जन उसका समाधान करेंगे।

ब्रह्मचर्य अध्ययन मे गद्य का पद्यानुवाद करने में छन्द बदला गया है। अन्य अध्ययनों मे प्रायः एक ही प्रकार के उपरोक्त तर्ज हैं।

सम्पादन कार्य मे प० शशिकान्त जी ने अनुवाद में लालित्य और रोनकता लाने का जो निष्ठापूर्वक श्रम किया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। जैन समाज के हर घर मे हर स्वर में भ० महावीर का यह प्रस्तुत उपदेश "रामायण" की तरह प्रतिदिन पठन-पाठन में स्थान प्राप्त करे और प्रत्येक भारतवासी महावीर के उपदेशों का सरलता मे ज्ञान प्राप्त कर सके, यही भावना इस पद्यानुवाद के मूल में सन्निहित है।

प्रकाशन में उदार अर्थसहयोगी

[समाजसेवी सेठ श्री जालमचन्दजी बाफणा : एक परिचय]

'धन कमाना' कोई बहुत बड़ी बात नहीं है, किन्तु अर्जित धन का संरक्षण करना कठिन है, और उससे भी कठिन है—धन का सदुपयोग करना।

संसार के लाखों धनपतियों में से धन का सदुपयोग करने वाले बहुत कम मिलेंगे। उन विरले मनुष्यों की गणना में एक नाम है—भोपालगढ़ (राज०) निवासी दानवीर सेठ श्रीजालमचन्दजी बाफना एवं उनके सुपुत्रों का। समाज सेवा एवं ज्ञान प्रचार आदि कार्यों में आपके परिवार की ओर से समय-समय पर उदारतापूर्वक धन का सदुपयोग किया जाता रहा है।

श्रीमान जालमचन्दजी साहब की धर्मपत्नी थी स्व० श्रीमती पतासीबाई बाफना। आप बड़ी सरल परिणामी, धर्मशीला एवं उदार श्राविका थी। आप अधिकतर भोपालगढ़ में ही रहती थी और साधु-सतियों की सेवा तथा धर्म-ध्यान में अपना समय बिताती थी। कुछ ही समय पूर्व पुत्रों के अधिक आग्रहवश आप आगरा व कानपुर आई। जहाँ आपके पुत्र श्रीरिखबराजजी (आगरा) एवं मनमोहनचन्दजी (कानपुर) में दाल मिल चलाते हैं। आप कानपुर गई। वहाँ १० दिन की सामान्य बीमारी के बाद अचानक ही आपका स्वर्गवास हो गया।

श्रीमान रिखबराजजी एवं मनमोहनचन्दजी ने अपनी मातुश्री की संस्मृति में उत्तराध्ययन सूत्र के प्रकाशन में अर्थ सहयोग प्रदानकर अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है।

श्रीमती मानीबाई (माडीबाई) जंवरीलालजी कांकरिया

धर्मशीला उदार श्राविका श्रीमती मानीबाई (माडीबाई) सेठ श्रीजालमचन्दजी बाफना की सुपुत्री तथा स्व० सेठ श्री जंवरीलालजी कांकरिया (भोपालगढ़) की धर्मपत्नी है।

श्रीमती मानीबाई अपने माता-पिता तथा परिवार के उच्च संस्कारों के अनुरूप ही बड़ी सरलमना, सात्विक विचारों वाली धर्मपरायण महिला है। आपके पुत्र श्रीसज्जनराजजी जब तीन वर्ष के थे, तभी आपको पति-वियोग सहना पड़ा। किन्तु हिम्मत और सूझबूझ के साथ आपने अपनी सन्तान को धार्मिक संस्कारों से सम्पन्न बनाया और व्यवसाय के क्षेत्र में लगाया।

श्रीसज्जनराजजी कांकरिया अपने पूज्य नानाजी एवं मामाजी के निर्देशन में व्यापार कुशल बने और आज आगरा में कुशलतापूर्वक अपना व्यवसाय चला रहे है।

श्रीमती मानीबाई तीन वर्षीतप कर चुकी है और सतत व्रत-उपवास आदि धार्मिक क्रियाओं से जीवन को सार्थक बना रही है।

अपने पूज्य पिता श्री की स्मृति में तथा माता श्री की भावना के अनुरूप इस पुस्तक प्रकाशन में सहयोग देकर श्री सज्जनराजजी ने भगवद्वाणी के प्रचार में अनुकरणीय कार्य किया है।

सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल की ओर से हम उक्त महानुभावों का हार्दिक अभिवादन करते है।

मन्त्री
सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

सम्पादकीय

उत्तराध्ययन सूत्र करुणासिन्धु, विश्वबन्धु भगवान् महावीर के अन्तिम उपदेशों का अनमोल संग्रह है। इसका प्रत्येक अध्ययन जीवन को जागृत और सार्थक बनाने की क्षमता वाला है। इन उपदेशात्मक अध्ययनों के अनुकूल चलने पर प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अग्नि में तपे स्वर्ण की तरह अपूर्व तेज और आभा मण्डित बन कर स्व-पर का कल्याण कारक बन सकता है। इसके कतिपय अध्ययन तो ऐसे मर्मस्पर्शी भाव वाले हैं कि जिनके पठन-मनन और आचरण से निश्चय ही अलौकिक आनन्द की प्राप्ति सम्भव है।

आरम्भ के विनयश्रुत अध्ययन में विनीत एवं अविनीत शिष्य का जो चरित्र-चित्रण किया गया है, दूसरे परीषह अध्ययन में जीवन को दुःखी और चंचल बनाने वाले जिन परीषहों को दिखाया गया है, वे निश्चय आँख खोलने वाले हैं। नमि प्रव्रज्या अध्ययन तो मोह तोड़ने में बेजोड़ माना जायेगा। ऐसे ही द्रुमपत्रक अध्ययन तो निश्चय अनुपम है। इसमें अपने परम प्रिय शिष्य गौतम गणधर को काल के सूक्ष्म भाग "समय" तक को भी व्यर्थ नहीं गंवाने के लिए प्रभु महावीर ने देवोपम दिव्य देह की जराग्रस्त होने पर वर्ण, चक्षु, कान तथा केश और त्वचा आदि के विकृतियों का जो चित्रण एवं तरु से गिरते पाण्डुपत्रों का उदाहरण देकर जीवन और यौवन की क्षणभंगुरता का जो रूप दिखाया है, निश्चय ही दार्शनिक दृष्टि से यह अध्ययन अपनी गरिमा और मार्मिकता में बेजोड़ है।

ऐसे अन्य सभी अध्ययन अपने-अपने ढंग से निखारने और जीवन को संयम पथ पर ले जाने में सक्षम एवं समर्थ हैं।

यही कारण है कि 'उत्तराध्ययन' सूत्र का न सिर्फ जैन धर्म वरन् जैनेतर जगत में भी अपना एक विशिष्ट महत्त्व और स्थान है। इसकी लोकप्रियता और प्रख्याति इतनी बढ़ी है कि प्रायः अधिकांश विद्वानों ने इस सूत्र पर अपनी लेखनी चलाने के लोभ का संवरण नहीं किया है।

इस प्रकार इसकी टीकाएँ भी बहुत हुईं किन्तु शुद्ध हिन्दी में सरल सुबोध अभी तक कोई ऐसा अनुवाद नहीं निकला जो इस प्रकार पद का अविकल

● ● ●

॥ ॐ ॥

१. विनयश्रुत

द्रव्य - भाव संयोग - मुक्त, भिक्षाजीवी अनगारों का ।
विनयधर्म का कथन करूँगा, श्रवण करो व्रतधारो का ॥१॥

गुरु आज्ञा-निर्देश करे, गुरुवर पद की सेवा करता ।
इंगित चेष्टा का विज्ञ श्रमण, सुविनीत शिष्य वह कहलाता ॥२॥

जो गुरु आज्ञा से विमुख रहे, गुरुदेव चरण में ना रहता ।
वह प्रत्यनीक संबोध - रहित, अविनीत शिष्य है कहलाता ॥३॥

सड़े कानवाली कुतिया, ज्यों जाती दूर सदा सबसे ।
कुशील और वाचालाचारी, वाचाल-भिक्षु, गण से वैसे ॥४॥

सूअर धान्य-भूस को तजकर, विष्ठा में ललचाता है ।
शील छोड़ अज्ञानी वैसे, दुःशील में रम जाता है ॥५॥

कुत्ती सूअर नर की दुर्गति, सुन विज्ञ विचारे निज मन में ।
अपने हित की इच्छा हो तो, धारे विनय इस जीवन में ॥६॥

हो शील - लाभ इसलिए सदा, आचार विनय कर ले पालन ।
जो है मोक्षार्थी बुधपुत्र, उसका न कहीं से निष्कासन ॥७॥

सदा शान्त हो गुरुजनों में, मितभाषी होकर रहना ।
अर्थयुक्त वचनों को सीखे, व्यर्थ वचन मत मन धरना ॥८॥

पाकर गुरुजन का अनुशासन, ना विज्ञ शिष्य मन क्रोध करे।
तज क्षुद्र संग और हास्य खेल, धारण कर शान्ति सदा विचरे ॥९॥

व्यवहार दुष्ट ना करे कभी, न व्यर्थ किसी से बात करे।
नियत समय पर पाठ ग्रहण कर, बैठ अकेला ध्यान धरे ॥१०॥

कर चाण्डालोचित कर्म भिक्षु, सहसा न छिपाये उसे कहीं।
यदि बुरा किया तो कहे बुरा, और नहीं किया तो कहे नहीं ॥११॥

गलित अश्व सम गुरु वचनों के, चाबुक की ना चाह करे।
आकीर्ण अश्ववत् वचन-कशा को, देख पाप का त्याग करे ॥१२॥

इच्छानुकूल व्यवहारी हो, और कार्यकुशलता से करते।
रोष - भाव वाले गुरु को भी, मुनि विनयशील प्रमुदित करते ॥१३॥

बोले न बिना पूछे कुछ भी, पूछे भी झूठ नहीं बोले।
आने पर क्रोध विफल कर दे, प्रिय अप्रिय सब धारण कर ले ॥१४॥

आत्मा को वश में है करना, कारण आत्मा ही दुर्दम है।
इस भव परभव में सुख पाता, जो दान्त आत्मा सक्षम है ॥१५॥

अपने द्वारा तप संयम से, दमन स्वयं का है अच्छा।
वध - बन्धन द्वारा पर - जन से, है दमन नहीं लगता अच्छा ॥१६॥

आचार्य बुलावे तो सुनकर, हो मौन कभी ना शिष्य रहे।
गुरु - प्रसाद इच्छुक मोक्षार्थी, सदा गुरु के पास रहे ॥२०॥

जो एक बार या पुनः पुनः, बैठा न रहे गुरु-आज्ञा सुन।
गुरु वचन विनय से ग्रहण करे, तज धीर शीघ्र अपना आसन ॥२१॥

आसन या शय्या पर बैठा, गुरुजन से कुछ पूछे न कभी।
उत्कटु आसन से आ समीप, पूछे प्रांजलियुत प्रश्न सभी ॥२२॥

सुविनीत शिष्य को गुरु जन भी, प्रश्नों के उत्तर खोल कहें।
सूत्र अर्थ जैसा जाना है, वैसा ही सद्ज्ञान कहें ॥२३॥

भिक्षु असत्य नहीं बोले, और निश्चय भाषा कहे नहीं।
भाषा के दोषों को छोड़े, माया को मन में धरे नहीं ॥२४॥

सावद्य व्यर्थ और मर्मन्तुद, पूछे जाने पर भी मुनि जन।
अपने या पर दोनों के हित, बोले न भूल कर कभी वचन ॥२५॥

शालागृह या सन्धि स्थान, या राजमार्ग एकान्त परे।
भिक्षु अकेली रमणी के संग, खड़ा रहे ना बात करे ॥२६॥

शीतल या परुष मृदु वचन से, गुरुवर जो शिक्षा देते।
यह मेरे ही लाभ हेतु, यों देख उसे पालन करते ॥२७॥

यह उपायभूत अनुशासन, दुष्कृत निवारक होता है।
प्राज्ञ उसे हितकर माने, असाधु द्वेष मन लाता है ॥२८॥

भय - रहित विज्ञ स्वयं शिक्षा, को हितकारी मन माता है।
होता वही शान्ति सम्पोषक, मूढ़ों को द्वेष जगाता है ॥२९॥

गुरु आसन से निम्न और, निश्चल निःशब्द पर बैठे।

नियत समय भिक्षा को निकले, तथा समय पर आ जाए।
वर्जन कर विपरीत काल, सब कार्य समय पर कर पाए ॥३१॥

गृहिदत्त आहार - गवेषी हो, ना भिक्षु पंक्ति में खड़ा रहे।
साधुवेष से भिक्षा पाकर, यथा समय नित भोग लहे ॥३२॥

भिक्षाचर हो तब एकाकी, खड़ा दृष्टि में रहे नहीं।
दूर और अति निकट न ठहरे, गमन लांघ मुनि करे नहीं ॥३३॥

ऊँचे नीचे अति दूर निकट, स्थित दाता से ना ग्रहण करे।
पर - हित निर्मित प्रासुक भोजन, संयत मुनि विधि से ग्रहण करे ॥३४॥

प्राण और बीजादि रहित, संच्छन्न स्थान जो संवृत हो।
समभाव सहित ना छिटकाते, आहार करे मुनि संयत हो ॥३५॥

अच्छा किया पकाया वा, छेदन या हरण किया अच्छा।
है इष्ट सुघड़ सुन्दर ऐसा, ना वचन सदोष कहे अच्छा ॥३६॥

बुद्धिमान, शिष्यों को गुरुजन, शिक्षण देकर हर्षाते।
भद्र अश्व के चालक सम वे, मोद बहुत मन में पाते ॥
विनय - रहित का शासन करके, गुरुजन क्लेश उठाते हैं।
गलिअश्व के चालक जैसे, मार मार थक जाते हैं ॥३७॥

पापदृष्टि गुरु शुभ अनुशासन, को ठोकर चाँटा जाने।
[illegible]

आचार्यदेव को रुष्ट जान, मृदु प्रिय वचनों से तुष्ट करे।
ऐसी होगी फिर भूल नहीं, अंजलि जोड़े उपशान्त करे ॥४१॥

धर्माजित व्यवहार सदा, आचार्यों ने आचरण किया।
गर्हा को प्राप्त नहीं होता, जिसने वैसा आचार किया ॥४२॥

भाव मनोगत और वाक्यगत, गुरुवाणी का ग्रहण करे।
भाव समझ कर कार्यरूप दे, आज्ञा को स्वीकार करे ॥४३॥

विनय-भाव से ख्यात शिष्य, जो बिना प्रेरणा कार्य करे।
यथादेश सत्कार्य करे, निज कृत्यों में ना ढील धरे ॥४४॥

प्राज्ञ जानकर विनय करे, उसकी जग महिमा होती है।
विनयी भी धर्माश्रय वैसे, ज्यों शरण जीव भू होती है ॥४५॥

पूज्य प्रसन्न होते उस पर, वे पूर्व विनय परिचित होते।
और विपुल मोक्ष मूलक उसको, श्रुत ज्ञान लाभ हो खुश देते ॥४६॥

शास्त्र-पूज्य संशय-विहीन, गुरु भक्त कर्म सम्पदयुत हो।
व्रत पाल दिव्य पद है पाता, तप और समाधि-संयुत हो ॥४७॥

सुर नर गन्धर्वों से पूजित, मल पंक रचित यह तन तज कर।
शाश्वत सिद्धत्व निभाता या, लघु कर्म महर्द्धिक देव अमर ॥४८॥

२. परीषह

आयुष्मन् ! उन वीर प्रभु ने, बाईस परीपह बतलाये।
सुन जान जिन्हें भिक्षुक भिक्षा में, पाकर कभी न घबराये॥१॥

कहो कौन बाईस परीपह, वीर प्रभु ने बतलाये।
जो सुन जान विजित परिचित, कर भिक्षु कभी न घबराये॥२॥

ये हैं वे बाईस परीपह, प्रभु ने जो बतलाये हैं।
जो सुन जान विजित परिचित, कर भिक्षु नहीं घबराये हैं॥३॥

प्रथम क्षुधा और तृष्णा दूसरा, जो कि कण्ठ-शोपण करता।
शीत उष्ण और दंश-मशक का, पीड़न मन विचलित करता॥
अचेल अरति स्त्रीचर्या, शय्या निपीधिका का परिपह।
आक्रोश याचना वध अलाभ, और स्पर्श तृणों का है दुस्सह॥
है मल्ल परीपह अष्टादश, सत्कार पुरस्कृति सुखकर है।
प्रज्ञा प्रखर अहं लानी, दर्शन अज्ञान भी दुष्कर है॥४॥

काक जंघ - सम क्षुधा-क्षीण-तन, नस-ढांचा भर रह जाए।
अशन-पान मात्रज्ञ साधु, भिक्षा अदीन मन से लाए ॥७॥

पापभीरु संयम तत्पर, अत्यन्त प्यास-पीड़ित होकर।
शीतोदक सेवन करे नहीं, लाए प्रासुक जल शोधन कर ॥८॥

निर्जन पथ में यात्रा करते, अतिशय प्यासाकुल होकर के।
सूखा मुँह साधु दीनभाव तज, चले प्यास को सहकर के ॥९॥

रूक्षवृत्ति आरंभ - रहित, मुनि कभी शीत से पीड़ित हो।
मर्यादा - लंघन करे नहीं, जिनशासन सुनकर स्थिर मन हो ॥१०॥

शीत - निवारण स्थान नहीं, छवि रक्षक भी कुछ वस्त्र नहीं।
पावक से सर्दी दूर करूँ, ऐसा मुनि चिन्तन करे नहीं ॥११॥

तप्तभूमि के तापों से, या ग्रीष्म सूर्य के दाहों से।
पीड़ित हो सुख के हेतु संत, आकुल न करे मन आहों से ॥१२॥

उष्ण ताप से तप्त प्राज्ञ मुनि, स्नानेच्छा ना मन लावे।
करे न गीला तन जल से, पंखे वीजन न हवा लावे ॥१३॥

दंश - मशक के डसने पर, समरस हो मुनि दुःख सहन करे।
संग्रामशीर्ष पर शूर नाग, सम राग द्वेष का विजय करे ॥१४॥

त्रस्त न हो, ना दूर हटावे, मन में भी ना द्वेष करे।
रक्त मांस खाते ना मारे, समता उपेक्षाभाव धरे ॥१५॥

फटे जीर्ण वस्त्रों के कारण, वस्त्र - रहित हो जाऊँगा।
मन में न भाव ऐसा लावे, अब या वस्त्र भी पाऊँगा ॥१६॥

कभी अचेलक होता है, फिर कभी सचेलक भी हो जाता।
दोनों को धर्महित जान, ज्ञानी अदीन मन रह जाता ॥१७॥

ग्रामानुग्राम विचरण करते, अनगार अकिंचन व्रतधारी।
यदि अरतिभाव मन आ जाए, तो सहन करे समताधारी ॥१८॥

हिंसादि विरत आत्मा - रक्षित, जो अरति भाव को दूर करे।
धर्म मार्ग आरंभ - रहित, उपशान्त भाव हो मुनि विचरे ॥१९॥

हैं नर के लिए बंध कारण, ये स्त्रियां लोक में बहुत सबल।
लेता है जान बात जो यह, उसकी जग में साधुता सफल ॥२०॥

है पंकभूत नारी मुनि हित, यह बात सदा ही ध्यान धरे।
ना संयम - घात करे उनसे, निज आत्म-गवेषी हो विचरे ॥२१॥

हो एकाकी सम्यग् विचरे, मुनि जीत परीषह को जग में।
गाँव नगर या रजधानी में, शुद्धाहारी जनपद में ॥२२॥

नहीं गृही सम विचरे मुनिवर, ममता का न भाव धरे।
रहे गृही जन से अलिप्त, और अनिकेतन होकर विचरे ॥२३॥

तरु - मूल शून्य घर या मशान, रागादि रहित हो ध्यान धरे।
चांचल्य - रहित होकर बैठे, ना अन्य किसी को त्रस्त करे ॥२४॥

उन स्थानों पर बैठे मुनि को, उपसर्ग कदाचित आ जावे।
शंका से भयभीत चित्त, अन्यत्र न उठ करके जावे ॥२५॥

अच्छी बुरी वसति पाकर, तपसी मुनि मन में धैर्य धरे।
मर्यादा लंघन करे नहीं [illegible] ॥२६॥

दारुण कठोर अप्रियभाषा, सुन कर न संयमी क्रोध करे।
मौनभाव धर करे उपेक्षा, उनका मन में ना ध्यान धरे ॥२६॥

पीटा जाकर ना क्रोध करे, मन को भी दूषित करे नहीं।
क्षमाभाव को श्रेष्ठ जान, मुनि धर्म भाव मन धरे सही ॥३०॥

श्रमण जितेन्द्रिय मुनिवर पर, यदि कोई कहीं प्रहार करे।
है नाश जीव का कभी नहीं, मुनि ऐसा चिन्तन किया करे ॥३१॥

दुष्कर है अनगार भिक्षु का, नित्य याचना कर खाना।
अशनादिक सब याचित मिलते, याच्ना बिना न कुछ पाना ॥३२॥

गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि को, कर पसारना सरल नहीं।
श्रेष्ठ अतः घर का निवास है, मुनि चिन्तन यों करे नहीं ॥३३॥

गृहपति घर भोजन बनने पर, अन्नादि एषणा श्रमण करे।
चाहे पिण्ड मिले या ना भी, मुनि मन ना अनुताप धरे ॥३४॥

आज नहीं मैं पाता हूँ, संभव है कल मिल जायेगा।
जो इस प्रकार चिन्तन करता, उसको अलाभ ना दुःख देगा ॥३५॥

उत्पन्न रोग से दुःखी पर, मन पीड़ा में मन दृढ़ करे।
दीनभाव तज स्थिरमति हो, मुनि कष्ट दुःख से सहा करे ॥३६॥

साधक चिकित्सा ना चाहे, ना करे कराये दुःख सहे।
निश्चय उसका श्रामण्य यही, आत्मगवेषी न समाधि कहे ॥३७॥

जो रूक्ष शरीर अचेलक है, तृण संस्तर पर तपस्वी सोये।
तृण पर सोने से होती है, तन पीड़ा को तपस्वी सो ॥३८॥

ग्रीष्मातप आतप निकले से, अतुल वेदना होती है।

पंक धूल या ग्रीष्म ताप से, मैल वदन पर जमा करे।
परिताप-खिन्न मेधावी मुनि, साताहित नहीं विलाप करे ॥४०॥

कर्म निर्जरा कष्ट सहे मुनि, श्रेष्ठ धर्म निर्दोष यही।
तन वियोग तक हर्षित मन हो, मैल वदन पर धरे सही ॥४१॥

सत्कार निमन्त्रण अभिवादन, जो राज्य स्वामिकृत प्राप्त करे।
उनकी वांछा करे न मन में, ना धन्य शब्द मुख से उचरे ॥४२॥

मन्दकषायी अल्पचाह, अज्ञात एषणा करता है।
रस - गृद्ध न बनता हो लोलुप, और प्राज्ञ खेद ना धरता है ॥४३॥

निश्चय ही मैंने कर्म किये, हैं ज्ञान-निरोधक दुःखकारी।
पूछा जाने पर कहीं किसी से, मैं जान न पाता हितकारी ॥४४॥

अज्ञान-फलप्रद कर्म किये, जो उदय समय पर आते हैं।
यों कर्म विपाक समझ मुनिवर, मनको आश्वस्त बनाते हैं ॥४५॥

मैं व्यर्थ हुआ मैथुन-निवृत्त, इन्द्रिय मन गोपन व्यर्थ किया।
है धर्म शुभद या पाप मूल, प्रत्यक्ष न इसका ज्ञान लिया ॥४६॥

तप उपधान ग्रहण करके, प्रतिमा का पालन करता हूँ।
इस चर्या में विहरण कर भी, ना छद्म दूर कर पाता हूँ ॥४७॥

निश्चय ही परलोक नहीं, तपसी जन की भी ऋद्धि कहीं।
अथवा मैं ठगा गया जग में, यों मुनि शंका मन करे नहीं ॥४८॥

हुए कई जिन वर्तमान हैं, और कई आगे होंगे।
कहते [illegible] मिथ्या कहते, यों कभी नहीं मुनि सोचेंगे ॥४९॥

ये सभी परीषह काश्यप ने, दुःख सहने को हैं बतलाये।
[illegible] कहीं [illegible], भिक्षु न कभी भी घबराये ॥५०॥

मिला भाग्य से धर्म-श्रवण, श्रद्धा दुर्लभ ना पाते हैं।
सुनकर भी सच्चा मोक्ष मार्ग, पथभ्रष्ट कई हो जाते हैं ॥९॥

श्रुति एवं श्रद्धा पाकर भी, दुर्लभ पौरुष है शिव पथ में।
रुचि करके संयम श्रेणी पर, चलते न कभी वे इस पथ में ॥१०॥

मानव तन पा जो धर्म-श्रवण, करता उसमें श्रद्धा रखता।
वह तप में वीर्य लगा संवृत हो, कर्म धूलि को है धुनता ॥११॥

है शुद्धि सरल मनकी होती, शुचि मन में धर्म निवास करे।
निर्वाण परम वह पाता है, घृतसिक्त अग्नि सम ज्योति धरे ॥१२॥

कर दूर बंध के कारण को, क्षान्त्या संयम का संचय कर।
वे उच्च दिशा को जाते हैं, अपना यह पार्थिव तन तज कर ॥१३॥

विविध शील व्रत का पालन कर, देव उत्तमोत्तम बनते।
महा शुक्ल सम दीप्तिमान हो, नहीं च्यवन को मन धरते ॥१४॥

दैवी भोगों में अर्पित हो, इच्छारूपी वे रहते हैं।
पूर्व वर्ष शत दीर्घकाल तक, ऊर्ध्वकल्प में बसते हैं ॥१५॥

उन कल्पों में यथायोग्य रह, देव समय पर च्युत होते।
मनुज योनि में आकर के, दश अंग पुण्य से वे पाते ॥१६॥

क्षेत्र वास्तु हिरण्य स्वर्ण, पशुदास अंगरक्षक होते।
ये चार जहाँ हों काम स्कन्ध, उस कुल में वे पैदा होते ॥१७॥

अच्छे मित्र ज्ञाति उत्तम हों, गोत्र-वर्ण भी शुभ पाते।
रोग रहित प्रज्ञा-यशधारी, ख्यात कुलीन सबल होते ॥१८॥

मानव के अनुपम भोगों का, जीवन भर अनुभव करते।
पूर्व-विशुद्ध धर्म पालन से, निर्मल बुद्धि प्राप्त करते ॥१९॥

दुर्लभ चारों अंग जानकर, संयम गुण में चित्त धरे।
तप से कर्म मैल धोकर के, शाश्वत शिव पद प्राप्त करे ॥२०॥

□ □

है हिंसक बाल मृषावादी, मायावी पिशुन धूर्त मानो।
मद्य मांस सेवन कर जग में, श्रेय मानता वह जानो ॥९॥

वह मत्त वचन तन से रहता, धन नारी में आसक्त सदा।
शिशुनाग सदृश दोनों मुख से, मल संचय करता यदा कदा ॥१०॥

फिर रोगग्रस्त हो अज्ञानी, बन ग्लान तप्त मन होता है।
निज अशुभ कर्मका चिन्तन कर, पर लोक भीत हो रोता है ॥११॥

दुःशील जनों की नरकों में, दुर्गति मैंने जो कान सुनी।
क्रूर कर्मयुत बाल जीव की, गाढ़-वेदना करुणधुनी ॥१२॥

है स्थान नरक में यथा दुखद, मैंने शास्त्रों से जाना है।
कर्मानुसार जाता प्राणी, वह पीछे मन पछताता है ॥१३॥

जैसे सारथि छोड़ सुपथ को, जान कुपथ रथ ले जावे।
विषम मार्ग में अक्ष टूटने, पर चिन्तित वह हो जावे ॥१४॥

यों धर्म मार्ग को छोड़ मूढ़ जो, पाप मार्ग पर चलता है।
टूटे अक्ष सारथि सम वह, मृत्यु समय दुःख धरता है ॥१५॥

वह मूर्ख मृत्यु की वेला में, परलोक ताप से डरता है।
जूए में विजित जुआरी सा, निश्चय अकाम वह मरता है ॥१६॥

अज्ञानमरण यह बालों का, है वीर प्रभु ने बतलाया।
अब मुझ से सुनें सकाम मरण, ज्ञानी ने जिसको अपनाया ॥१७॥

मरण समय की इष्ट घड़ी में, श्रद्धालु निर्भय चित्तधरे।
गुरु चरणों में अनशन करके, देहत्याग का भाव करे ॥३१॥

मरण घड़ी आने पर मुनि, अनशन से तन का त्याग करे।
तीन सकाम-मरण में कोई, एक मरण स्वीकार करे ॥३२॥

यों कतिपय वादी मान रहे, पापों का विन परित्याग किये।
आचार मात्र की शिक्षा से, ही सम्पूर्ण दुःख की मुक्ति लिये ॥६॥

वन्ध-मोक्ष के परिज्ञाता, परमार्थ कहे पर चले नहीं।
वचन मात्र से जोर दिखा, आश्वस्त स्वयं को करे सही ॥१०॥

नाना भाषा और विद्या के, बल से भी त्राण नहीं पाते।
पापकर्म में सने मूढ़, पण्डित ज्ञानी धोखा खाते ॥११॥

जो इस शरीर में मूर्छित हो, मन वचन काय से प्रीतिवरे।
वर्ण-रूप में सर्वभाव से, मोहित हो दुःख की वृद्धि करे ॥१२॥

अमित विश्व में दीर्घ मार्ग पा, सोच समझ कर चरण धरें।
अतः देख कर सभी दिशा को, अप्रमत्त हो मुनि विचरें ॥१३॥

उच्च लक्ष्यधर भव वाहर के, विषयों की कांक्षा करे नहीं।
संचित कर्मों का क्षय करने, इस तन को धारण करे सही ॥१४॥

कर्म हेतु को दूर हटा, कर्तव्य काल का ध्यान करे।
अशन पान की मात्रा कर, निर्दोष पिण्ड पा देह धरे ॥१५॥

रजनी में साधु नहीं रक्खे, वे लेप मात्र अन्नादिक पास।
ले पात्र चलें खगवत निस्पृह मन में अदम्य धर के विश्वास ॥१६॥

फिर जीव कर्म से भारी हो, प्रत्यक्ष जगत में मन धरता।
बकरे की भाँति अतिथि आए, मरणान्त समय चिन्ता करता ॥९॥

जब आयुक्षीण हो जाती है, हिंसक शरीर तजकर जाता।
आसुरी दिशा में अज्ञानी, तम भरे नरक में दुःख पाता ॥१०॥

जैसे काकणी के हेतु मनुज, है हार हजार यहाँ जाता।
खाकर अपथ्य फल आम्र भूप, लालच में राज्य गँवा जाता ॥११॥

है तुच्छ काम-सुख मनुजों का, ऐसे ही सुर सुख के आगे।
देवों का भोग और जीवन, नर से हजार गुण है आगे ॥१२॥

होती असंख्य वर्षों की है, दिवि प्राज्ञ जनों की आयु नहीं।
जिनको दुर्मेधा विषयी बन, करता शताब्द में नष्ट यहीं ॥१३॥

जैसे तीन वणिक घर से, पूँजी लेकर परदेश गए।
ले लाभ एक लौटा दूजा, घर आया केवल मूल लिए ॥१४॥

एक गँवा पूँजी अपनी, घर आया खाली हाथ लिए।
व्यवहार क्षेत्र की यह उपमा, यों धर्मक्षेत्र में ग्रहण किए ॥१५॥

ऐसे मानुष भव मूल समझ, देवत्व लाभ कहलाता है।
निश्चय नारक तिर्यंच रूप, जीवन धन हानि कहाता है ॥१६॥

मूढ़ जीव की दो गतियां, हिंसा मूलक होती भारी।
रस लोलुप शठ असत्य और, नरभव बाजी देता हारी ॥१७॥

नर गति खोकर जो जाता है, तिर्यक् नारक दो दुर्गति में।
दुर्लभ उसका ऊपर आना चिरकाल बिताकर सद्गति में ॥१८॥

९. नमिप्रव्रज्या

अमर लोक से च्युत होकर, नमि ने नर भव में जन्म लिया ।
उपशान्त मोह के होने से, निज पूर्व जन्म का स्मरण किया ॥१॥

पूर्व जन्म की स्मृति से नमि ने, श्रेष्ठ धर्म का बोध किया ।
राज्य भार सुत को देकर, दीक्षा के हित निष्क्रमण किया ॥२॥

सुर लोक सदृश वर भोगों का, अन्तःपुर में उपभोग किया ।
कर भोगबुद्ध नमि राजा ने, मन से भोगों को त्याग दिया ॥३॥

जनपद युत प्रिय मिथिलानगरी, सेना रनिवास तथा परिजन ।
सब छोड़ शान्ति पथ निकल पड़े, एकान्तवास में स्थिर धर मन ॥४॥

मिथिला में कोलाहल छाया, जब नमी प्रव्रज्या हेतु चला ।
सब राज विभव तज राजर्षि, संयम पथ धारा बहुत भला ॥५॥

ज्ञानादि गुणों की उच्च भूमि, उद्यत हो नमि ने गमन किया ।
विप्ररूपधारी सुरपति तब, निकट पहुँच यों कथन किया ॥६॥

राजर्षि ! आज इस मिथिला के, महलों में पुर के घर-घर में ।
दारुण कोलाहल व्याप्त रहा, क्यों बाल वृद्ध सब के स्वर में ॥७॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुति गोचर कर ।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर ॥८॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमी को यों बोले, अन्तर में गहरा चिन्तन कर॥४१॥

करके तुम त्याग गृहस्थाश्रम, अन्याश्रम की क्यों चाह करो।
घर में ही पौषधरत रहकर, राजन् ! सेवा का भाव धरो॥४२॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, वाणी ज्ञानामृत से भर कर॥४३॥

जो बाल मास का तप करके, भोजन कुशाग्र भर है करता।
श्रुत चरणधर्म की कलाषोडशी, भी वह प्राप्त नहीं करता॥४४॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, देवेन्द्र वचन श्रुतिगोचर कर।
राजर्षि नमी को यों बोले, अन्तर में गहरा चिन्तन कर॥४५॥

सोना चांदी मणि मुक्ता फल, कांस्यादि वस्त्र वाहन सुखकर।
इनसे निज कोष बढ़ा राजन् !, पीछे मुनिव्रत को धारण कर॥४६॥

यह हेतु और कारण प्रेरित, नमिराज अर्थ श्रुतिगोचर कर।
सुरपति को बोले इस प्रकार, अन्तर में गहरा चिन्तन कर॥४७॥

सोने चांदी के गिरि निश्चय, कैलाश तुल्य अगणित पाले।
फिर भी न लुब्ध को जरा तोष, इच्छा अनन्त नभ विस्तारे॥४८॥

जो चावल से भरी धरा यह, स्वर्ण और पशुओं के संग।
है न एक के हेतु बहुत, यह सोच चरें हम तप में रंग॥४९॥

१०. द्रुम-पत्रक

ज्यों रजनीगण के जाने पर, तरु-पत्र पुराने जाते झर।
वैसे नश्वर मानव-जीवन, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१॥

कुश-नोक[1] लटकते ओसबिन्दु, कुछ देर ठहरते ज्यों उस पर।
वैसे मानव का जीवन है, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२॥

यह अल्पकाल की आयु और, जीवन बहु विघ्नों का है घर।
कर दूर पुराकृत कर्म धूलि, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥३॥

चिर दिन से भी सब जीवों को, मानव जीवन है दुर्लभतर।
होते हैं कर्म-विपाक तीव्र, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥४॥

पृथ्वी के भव में जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
बसना वह काल असंख्य वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥५॥

अप्काय योनि में जा प्राणी, उत्कृष्ट काल तक जीवन धर।
बसना वह काल असंख्य वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥६॥

तेजकाय भव जा प्राणी, उत्कृष्ट काल जीवन धर कर।
बसना वह काल असंख्य वहाँ, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥७॥

अविकल पांचों इन्द्रिय पायीं, पर उत्तम धर्म श्रवण दुष्कर।
हैं कुतीर्थसेवी कितने, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१८॥

उत्तम धर्म श्रवण कर भी, श्रद्धा की प्राप्ति पुनः दुष्कर।
मिथ्यात्व-निषेवक[1] जन होता, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥१९॥

धार्मिक श्रद्धा होने पर भी, कायिक आचरण महादुष्कर।
कितने यहाँ काम-गुण-मूर्च्छित, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२०॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, होते ये केश धवल पक कर।
घट रहा श्रवणबल भी तेरा, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२१॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, ये केशधवल होते पककर।
घट रहा नयनबल है तेरा, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२२॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, होते हैं केश धवल पक कर।
घट रहा घ्राण-बल है तोर, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२३॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, होते हैं केश धवल पक कर।
घट रहा तुम्हारा जिह्वाबल, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२४॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, होते हैं केश धवल पक कर।
घट रहा स्पर्श का बल तेरा, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२५॥

हो रहा जीर्ण यह तन तेरा, होते हैं केश धवल पक कर।
क्रमशः सब बल हो रहे क्षीण, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२६॥

फोड़ा दिन तथा हैजा, करते अनेक रुज[2] तन में घर।
जिनसे विनष्ट होती काया, गौतम ! प्रमाद क्षण का मतकर ॥२७॥

११. बहुश्रुत पूजा

जो संयोग-विमुक्त भिक्षु है, स्वेच्छा व्रत धरता अनगार।
कहूं, सुनो मुझसे तुम क्रम से, उनका कैसा है आचार ॥१॥

जो भी विद्या से हीन मनुज, गर्विष्ठ लोलुपी है होता।
अति अक्रमभाषी[1] अजितेन्द्रिय, अविनीत अबहुश्रुत कहलाता ॥२॥

जिन पाँचों कारण से नर को, शिक्षा की प्राप्ति न हो पाये।
वे हैं आलस्य प्रमाद क्रोध, और रोग मान मन अकुलाये ॥३॥

आठ गुणों से युक्त मनुज, शिक्षा का होता अधिकारी।
ना हास्यशील और दान्त सदा, ना मर्म प्रकाशे दुःखकारी ॥४॥

चारित्रहीन ना विकृतिशील[2], अतिशय रस लोलुप हो न कभी।
क्रोध न करे सत्यरत होवे, कहलाये शिक्षाशील वही ॥५॥

चौदह स्थानों में वर्तमान, मुनि विनयहीन है कहलाता।
अपने ही दोषों के कारण, वह मुक्त नहीं है हो पाता ॥६॥

करता जो बारम्बार क्रोध, या क्रोध टिका कर रखता है।
ठुकराता प्रेमी की मैत्री, श्रुत पाकर जो मद करता है ॥७॥

---

1. असंबद्ध बोलने वाला

2. नियम का भेदन करने वाला

ज्यों साठ वर्ष का तरुण करी, हथिनी दल से शोभित होता।
अपराजित बलशाली वैसे, बहुश्रुत मुनि में शोभा पाता ॥१८॥

ज्यों तीक्ष्ण शृंग और पुष्टकन्ध का बैल यूथ अधिपति होकर।
पाता शोभा इस धरती पर, वैसे शोभे बहुश्रुत मुनिवर ॥१९॥

जैसे वह तेज दाढ़ वाला, पशु श्रेष्ठ सिंह इस धरती पर।
अपराजित शूर तरुण होता, वैसे होते बहुश्रुत मुनिवर ॥२०॥

ज्यों शंख चक्र गदाधारी, नारायण नर में शोभित हैं।
अपराजित योद्धा बलशाली, वैसे बहुश्रुत मुनिवर भी हैं ॥२१॥

चतुरन्त चक्रवर्ती जैसे, होता है महा ऋद्धिशाली।
चौदह रत्नों का अधिकारी, त्यों होता बहुश्रुत सुखकारी ॥२२॥

ज्यों सहस्राक्ष और वज्रपाणि, सुरपति वह शक्र पुरन्दर है।
वैसे आध्यात्मिक वैभव का, अधिपति होता बहुश्रुत नर है ॥२३॥

जैसे वह तिमिरध्वंसकारी, नभ में उठता सा दिनकर है।
निज तेज राशि से जलता है, वैसे होता बहुश्रुत नर है ॥२४॥

तारा - गण से घिरे हुए, ज्यों उडुपति चन्द्र सुशोभित है।
पूनम में पूर्ण रूपधारी, वैसे मुनिगण में बहुश्रुत है ॥२५॥

जैसे सामाजिक लोगों का, कोठार सुरक्षित रहता है।
परिपूर्ण धान्य सम [illegible], से भरा बहुश्रुत होता है ॥२६॥

जैसे वृक्षों में श्रेष्ठ वृक्ष, जम्बू सुदर्शन है जग में।
[illegible] सुर का आवास, वैसे बहुश्रुत जिन मग में ॥२७॥

१२. हरिकेशीय

चाण्डाल वंश में हो उद्भव, ज्ञानादि श्रेष्ठ गुण के धारी।
हरिकेशीवल नामक भिक्षु, थे विजितेन्द्रिय संयमधारी ॥१॥

ईर्या भाषा तथा एषणा, और परिष्ठापन उच्चार।
निक्षेप तथा आदान समिति में, थे संयत मन शान्त विचार ॥२॥

मन वचन काय की गुप्ति से, रक्षित विजितेन्द्रिय तपधारी।
ब्रह्मयज्ञ के यज्ञस्थान, भिक्षार्थ गए मुनिव्रतधारी ॥३॥

प्रान्त मलिन - उपकरण और, तप से परिशोषित मुनि जन को।
आते देख यज्ञमंडप में, निर्धर्म विप्र हंसते उनको ॥४॥

जाति मान से मत्त विप्र, हिंसक इन्द्रिय के दास बने।
वे ब्रह्मचर्य से हीन मूढ़, यह वचन कहे यों द्वेष सने ॥५॥

यह दीप्त रूप आ रहा कौन, काला विकराल स्थूलनक्का।
है अर्द्धनग्न ज्यों भूत प्रेत, चिथड़ा गर्दन में धर रक्खा ॥६॥

तुम कौन अदर्शनीय नर हो, आए ले आशा कौन यहाँ।
लगते अध नंग भूत तुल्य, जाओ जाओ क्यों खड़े यहाँ ॥७॥

तिन्दुक तरुवासी यक्ष वहाँ, उस मुनि पर अनुकम्पा करके।
निज तन छिपा ब्राह्मण गण से, यों बोला वचन भाव धर के ॥८॥

नृप, कौशलिक तनया भद्रा, जिसके अनिन्द्य सब अंग बने।
उस मुनि पर करते मार देख, छात्रों को लगी शान्त करने ॥२०॥

देवयोग प्रेरित नृप ने, इनकी सेवा में दे डाला।
देखा न मुझे मन से ये तब, सुर-नर-पति पूजित व्रत वाला ॥२१॥

यह निश्चय मुनि हैं उग्रतपी, इन्द्रियजित् संयत ब्रह्मव्रती।
जो पिता कौशलिक नृप द्वारा, दी गयी न चाही मुझे कभी ॥२२॥

मत हील[1] यशस्वी महाभाग ये, अत्यन्त बली और घोरव्रती।
कर दें न तेज से भस्म तुम्हें, हैं पूज्य अवज्ञा पात्र नहीं ॥२३॥

उस विप्र वधू भद्रा के सुनकर, वचन सुभाषित हितकारी।
ऋषि सेवा हित लगे यक्ष ने, रोका कुमार को उपकारी ॥२४॥

वे घोर असुर नभ में स्थित हो, उन सबको दंड प्रदान किया।
भिन्न देह, मुंह रक्त गिराते, लख फिर भद्रा ने बोध दिया ॥२५॥

नख से पर्वत को खोद रहे, दांतों से लोह चबाते हो।
जो श्रमण - अनादर करते हो, पैरों से अग्नि दबाते हो ॥२६॥

आशीविष उग्रतपी ऋषिवर, हैं घोर पराक्रम व्रतधारी।
पावक[2] में गिरते दल पतंग सम, भिक्षा में होता दुःखकारी ॥२७॥

यदि चाह रहे हो जीवन धन, तो नत सिर सब मिल गहो शरण।
हो रुष्ट साधु यह तपधारी, कर सकता क्षण में लोक दहन ॥२८॥

सिर पीछे की ओर झुके, फैले भुज चेष्टा बन्द हुयी।
बह रहा ओम शोणित[3] वमते, मुँह ऊपर नयन जीभ निकली ॥२९॥

मिथ्याभाषण चोरी त्यागे, षट्काय जीव का वध न करे।
मैथुन मद माया संग्रह का, कर ज्ञान दान्त तज जग विचरे ॥४१॥

पांचों संवर से संवृत जो, अविरत जीवन को ना चाहे।
उत्सृष्टकाय शुचि त्यक्त देह, कर्मारिविजय वर यज्ञ कहे ॥४२॥

है कौन ज्योति, क्या स्थान ज्योति का ? श्रुव कौन तथा कण्डे कैसे ?
ईन्धन है कौन शान्ति कैसी, किस होम से हवन करो कैसे ॥४३॥

है तपोज्योति शुभ स्थान जीव, है श्रुवा[1] योग कण्डा है तन।
कर्मेन्धन संयम शान्तिपाठ, करता हूँ मुनि का श्रेष्ठ यजन ॥४४॥

ह्रद और कौन है शान्ति तीर्थ, तुम कहां नहा रज हरते हो।
इच्छा मेरी जानूं तुम से, हे यक्षपूज्य ! क्या कहते हो ॥४५॥

ब्रह्म शान्ति का तीर्थ, धर्म ह्रद, स्वच्छ मुदित लेश्या वाला।
जिसमें नहा दोष को छोड़ूं, विमल शीत शुचि गुणवाला ॥४६॥

कुशलों ने देखा स्नान यहीं, ऋषियों का उत्तम स्नान महा।
जिसमें नहा महा ऋषिवर ने, विमल शुद्ध वर पद पाया ॥४७॥

★

सत्य शौचमय प्रकट कर्म, मैंने पहले करलिए भले।
हूँ आज भोगता फल उसका, क्या चित्त ! तुम्हें भी वही मिले ॥९॥

शुभ कर्म सफल नर के होते, है कृत-कर्मों से मुक्ति नहीं।
श्रेष्ठ अर्थ और कामों से, शुभ फल आत्मा यह भोग रहीं ॥१०॥

संभूत जान अति भाग्यवान, अति-ऋद्धियुक्त शुभ फलवाला।
इस चित्तजीव को भी राजन् ! जानो यों कान्ति ऋद्धि वाला ॥११॥

बहु अर्थ स्वल्प शब्दों वाली, गाथा गायी मुनि जनगण में
अर्जन करते मुनि शील-गुणी, सुन मैं भी श्रमण बना क्षण में ॥१२॥

उच्चोदय कर्क मध्य ब्रह्मा, मधु रम्यावास सजे सारे।
धन धान्य भरा घर भोग करो, पांचालक गुण शोभा धारे ॥१३॥

शुभ नाट्य गीत और वाद्य सहित, नारी जन से परिवृत होकर।
भोगो इन भोगों को भिक्षो ! लगती मुनिता मुझको दुःखकर ॥१४॥

पूर्व प्रेम से अनुरागी, अतिशय कामी उस भूधव को।
धर्माश्रित उसका हित चिन्तक, यों कहा चित्त ने नृप वर को ॥१५॥

हैं सारे गीत विलाप तुल्य, हैं विडम्बना नाटक सारे।
हैं आभूषण सब भार यहां, दुःखदायी काम-भोग सारे ॥१६॥

बाल-मनोहर दुःखदायी, कामों में वह सुख कहीं नहीं।
जो काम-विरत उन तपोधनी, भिक्षुक को सुख प्राप्त यहीं ॥१७॥

जाता समय रात्रियाँ जातीं, भोग पुरुष के नित्य नहीं।
मिल कर भोग तजे नर को, फलहीन वृक्ष खग[1] रहे नहीं ॥३१॥

राजन्! यदि भोग न तज सकते, तो आर्यकर्म भी कर डालो।
धर्मस्थित हो प्रजा हितैषी, जिससे सुर का शुभ पद पा लो ॥३२॥

ना भोग त्याग की मति तेरी, आरंभ-परिग्रह मूर्छित हो।
तो व्यर्थ प्रलाप किया मैंने, जाता हूँ भूप! उपेक्षित हो ॥३३॥

पाञ्चाल भूप वह ब्रह्मदत्त, मुनिवर का वचन अमानित कर।
गया अनुत्तर[2] नरक वीच, अतिशय भोगों का अनुभव कर ॥३४॥

काम भोग से विरत चित्त भी, उग्रतपस्वी व्रतधारी।
निर्दोष विरति का पालन कर, हो गए सिद्धि गति अधिकारी ॥३५॥

☆

पढ़ वेद विप्र को भोजन दे, घर में सुत को स्थापित करके।
लो भोग - भोग नारी के संग, हो आरण्यक मुनिव्रत धर के ॥६॥

आत्म - गुणेन्धन[1] मोह-पवन, और शोक-वह्नि[2] से जलता था।
परितप्त हृदय सुत ममता से, बहु विध करके समझाता था ॥१०॥

भू सुर[3] धन भोगों से क्रमशः, सुत को आमन्त्रण प्रेम करे।
देख पुरोहित को वैसे, यों पुत्र ज्ञान की बात करे ॥११॥

वेदों के पढ़ने से त्राण, और विप्र खिलाये तमस् गिरे।
पुत्र हुए भी त्राण नहीं, फिर वचन आपका कौन करे ? ॥१२॥

क्षण मात्र सुखद चिरकाल दुःख, अति दुःख स्वल्प सुखकारी है।
है भोग मोक्ष के प्रतिगामी, संकट - खानि दुःखकारी है ॥१३॥

अनिवृत्त कामना से प्राणी, दिन - रात तप्त मन फिरते हैं।
पर हेतु प्रमत्त धनाकांक्षी, नर मृत्यु जरा को पाते हैं ॥१४॥

यह मुझको है यह न हमें, यह कृत्य अकृत्य रहा मेरा।
यों कहते करता काल हरण, फिर क्यों प्रमाद डाले डेरा ॥१५॥

मन हर नारी और धन प्रभूत, स्वजन काम गुण विपुल रहा।
तप करते जन जिस कारण, स्वाधीन यहां सब तुम्हें अहा ॥१६॥

धर्म धुरा के धारण में, धन, स्वजन काम गुण से है क्या ?।
हम गुणधारी वर श्रमण बनेंगे, भिक्षाजीवी विषयों से क्या ? ॥१७॥

जैसे तिल में तेल, क्षीर घृत, अनल अरणि से प्रकटाता।
वैसे तन में जीव प्रकट होता, न किन्तु है टिक पाता ॥१८॥

पंखहीन खग ज्यों जग में, सेना विन निर्बल नृप रण में।
धनहीन वणिक् ज्यों नौका पर, त्यों व्यक्त-पुत्र मैं हूँ जन में ॥३०॥

अतिशय सुन्दर शब्दादि विषय, पुञ्जीकृत उत्तम रस वाले।
भोगों को मन भर अनुभव कर, हम चलें मुक्तिपथ मत वाले ॥३१॥

भोगे रस तजती है आयु, जीवन हित हम ना भोग तजें।
लाभ-हानि, सुख-दुःख सब सम, यह देख श्रेष्ठ मुनि धर्म भजें ॥३२॥

आवे न याद निज सोदर की, वन जीर्ण हँसवत् प्रतिगामी।
इसलिए भोग लें साथ भोग, भिक्षुक जीवन है दुःखकामी ॥३३॥

छोड़ केंचुली यथा सर्प, निस्नेह भाव से गमन करें।
जाते सुत वैसे भोग त्याग, हम क्यों न गमन का भाव धरें ॥३४॥

जैसे रोहितमत्स्य जीर्ण, है जाल काट बाहर जाता।
वैसे धीर उदार तपोजन, भोग छोड़ मुनिव्रत पाता ॥३५॥

जैसे क्रौंच हँस गण नभ में, काट जाल को उड़ जाये।
जाते पुत्र और मेरे पति, मैं क्यों न चलूं मन हर्षाये ॥३६॥

सुत-दारा संग भूसुर ने, तज भोग महाव्रत धार लिया।
सब वैभव उसका मंगा लिया, तब रानी ने उपदेश दिया ॥३७॥

राजन् ! नहीं प्रशंसा होती, जो खाते हैं किया वमन।
कैसे लेना चाह रहे हो, ब्राह्मण ने जो छोड़ा धन ॥३८॥

जग सारा यदि हो तेरा, सब धन भी तेरा हो जाये।
वह सब तेरे हित अपर्याप्त, उनसे न त्राण तब हो पाये ॥३९॥

सब छोड़ मनोरम काम भोग, राजन् ! तू मर कर जायेगा।
रक्षक बस होता एक धर्म रक्षक न अन्य तू पायेगा ॥४०॥

यों देवदत्त आदिक क्रम से, सब धर्म-परायण बुद्ध हुए।
हो जन्म मरण भय से विह्वल, दुखान्त-मार्ग[1] को खोज लिए ॥५१॥

अर्हत् शासन में मोह त्याग, वे पूर्व भावना भावित जन।
कर गए अन्त सब दुःखों का, कर अल्पकाल में मोक्ष गमन ॥५२॥

राजा रानी के संग चला, पत्नी संग विप्र पुरोहित भी।
युग-पुत्र लगे पहले शिव पथ, हो गए दुःख से मुक्त सभी ॥५३॥

क्षत्रिय माहण राजपुत्र गण, उग्र विविध शिल्पी लो जान।
उनकी महिमा ना ख्याति करे, वह त्यागी जानो श्रमण महान् ॥९॥

दीक्षा के पहले या पीछे, देखे या परिचित जो मतिमान।
उनका लौकिक फल पाने हित, जो करे न संस्तव वह मुनिजान ॥१०॥

शयनासन भोजन पान विविध, खादिम-स्वादिम ना करे प्रदान।
दाता मुनि को प्रतिषेध करे, उन पर कुपित न हो वह मुनिजान ॥११॥

जो अशन पान और खाद्य स्वाद्य, यत्किंचित गृही से कर आदान।
उनको त्रियोग आशीष न दे, संवृत योगी लो वह मुनिजान ॥१२॥

आयामक[1] जव ओदन कांजी, यव-उदक[2] शीत भोजन लो जान।
नीरस भोजन निन्दा न करे, विचरे लघु कुल में श्रमण महान ॥१३॥

देव मनुज और तिर्यंचोंके, विविध शब्द सुनते मतिमान्।
भीम भयंकर शब्दों को सुन, डरे नहीं वह श्रमण महान् ॥१४॥

वाद-बहुल जग जान साधु सह, संयमी शास्त्र का रखता ज्ञान।
प्राज्ञ सहिष्णु वा समदर्शी, उपशान्त शान्त वह श्रमण महान् ॥१५॥

है मुक्त संग गृह मित्र रहित, शिल्पाजीवी वशितेन्द्रिय जान।
मंदकषायी लघ्वाशी[3], गृह त्याग चले वह श्रमण महान् ॥१६॥

*

इस भाँति मन में हो मुदित, मुनि स्वस्थता धारण करे।
विहरे जगत में शान्ति से, वह व्याधि का वारण करे॥

करता यहाँ जो नित्य ही, एकान्त शय्यास्थल वसन।
निर्ग्रन्थ वह जो बैठता, निर्दोष आसन कर चयन॥
निर्ग्रन्थ पशु नारी नपुंसक, से सदा हटकर रहे।
इनसे घिरे आसन शयन का, वह नहीं सेवन करे॥

गुरुदेव ! यह क्यों शिष्य ने, पूछा जभी आचार्य से।
आचार्य ने उत्तर दिया निज, शिष्य को अतिचाव से॥
नारी, नपुंसक और पशु से, जो घिरा गृहवास है।
करते न सेवन मुनि उन्हें, रागादि का आवास है॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच सका इससे कहीं, तो रोग या उन्माद है॥

फिर दीर्घ-कालिक रोग या, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत में, केवली के धर्म से॥
अत एव नारी, पशु, नपुंसक, से शयन जो हों घिरे।
निर्ग्रन्थ वैसे वास का, निश्चय नहीं सेवन करे॥३॥

नारी जनों की जो कथा, करता नहीं निर्ग्रन्थ वह।
यह क्यों कहा आचार्य ने, कहते सकल सद्ग्रन्थ यह॥
जो गोष्ठियों में नारियों की, रसमयी करता कथा।
उस ब्रह्मचारी मन को, ऐसी कथा देती व्यथा॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका, स्वतः लेती है उदय॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच सका इससे कहीं, तो रोग फिर उन्माद है॥

अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग वा उन्माद है॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से॥
अतएव नारी के मनोरम, मृदुल-मनहर - अंग को।
आँखें गड़ा देखें न सोचे, मुनि सतत उस रंग को॥६॥

दीवार मिट्टी की जहाँ, दे ध्यान अन्तर भाग से।
परदे तथा दीवार पक्की के, पहुँच कर पास से॥
सुनता नहीं जो नारियों के, हास्य रोदन गीत है।
कूजन तथा प्रविलाप क्रन्दन, गर्जन तजे वह संत है॥

यह क्यों कहा आचार्य ने, उस मृत्तिका दीवार के।
परदे तथा दीवार पक्की, भीतरी संभाग के॥
जो नारियों के हास-रोदन, गीत क्रन्दन को अहा।
गर्जन तथा कूजन रवों को, सन्त जन सुनते रहा॥

फिर ब्रह्मव्रत के विषय में, उस ब्रह्मचारी के हृदय।
कांक्षा विसंशय और शंका स्वत: लेती है उदय॥
अथवा नहीं तो ब्रह्मव्रत का, पूर्ण होता नाश है।
यदि बच गया उससे कहीं, तो रोग या उन्माद है॥

या दीर्घकालिक रोग वा, आतंक होता है उसे।
वह भ्रष्ट होता है जगत् में, केवली के धर्म से॥
अतएव मिट्टी भीत या, परदा सुदृढ़ दीवार के।
ब्रह्मचारी ना सुने वे, शब्द चित्त विकार के॥७॥

गृहवास में पहले किए, जो भोग और विलास का।
करता नहीं जो संस्मरण, मन मान कर उल्लास का॥
वह साधु है, वह क्यों ? कहा, आचार्य ने प्रिय शिष्य को।
निर्ग्रन्थ श्रमण वह जो न करता, याद मैथुन कर्म को॥

ब्रह्मचर्य व्रत - लीन भिक्षु, शोभा का वर्जन नित्य करे।
अपने शरीर का परिमण्डन, शृंगार हेतु ना चित्त वरे ॥९॥

शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श, ये पाँचों काम बढ़ाते हैं।
इन काम गुणों को तजे नित्य, ये राग वृद्धि करवाते हैं ॥१०॥

हो नारी जन से घिरा निलय, और नारी कथा मनोहर हो।
अतिपरिचय हो नारी जन का, मनहर इन्द्रिय का दर्शन हो ॥११॥

कूजन रोदन और गीत हास, परिभुक्त भोग का अनुशीलन।
अति पुष्ट सरस अशनादिक का, अति मात्रा में करना भोजन ॥१२॥

गात्र सजाना इष्ट भोग, कामेच्छा वर्जन दुर्जय है।
आत्म-गवेषी जनहित ये, विष तालपुटवत् क्षयकर है ॥१३॥

जो कुछ सुनकर मन शिथिल किए, करता प्रमाद से प्रति-लेखन।
अपमान करे नित गुरुजन का, कहलाता है वह पाप श्रमण ॥१०॥

मायावी वाचाल स्तब्ध, लोभी निग्रह की वृत्ति नहीं।
जो असंविभागी प्रीतिहीन, है पाप श्रमण वह दमी नहीं ॥११॥

जो पाप कर्म में बुद्धि गंवा, उपशान्त कलह भड़काता है।
जो लीन कलह में आग्रह युक्त, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१२॥

अस्थिर आसन चेष्टा वाला, जो जहाँ - तहाँ बैठक करता।
रहता आसन में अनवधान, मुनि पाप श्रमण वह कहलाता ॥१३॥

जो धूल लगे पद सो जाता, शय्या प्रतिलेखन ना करता।
उपयोग शून्य आसन धारी, है पाप श्रमण वह कहलाता ॥१४॥

जो दूध - दही विकृति - भोजन, करता है बारम्बार यहाँ।
रहता है तप से दूर सदा, वह पाप श्रमण प्रख्यात यहाँ ॥१५॥

सूर्य अस्त तक जो भिक्षुक, मन माने भोजन खाता है।
प्रेरित हो प्रत्युपदेश करे, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१६॥

गुरु चरणों की सेवा तज, पाषंड धर्म सेवन करता।
दुश्शील भिक्षु, गण बदलू को, श्रुत पाप श्रमण है बतलाता ॥१७॥

जो अपने घर को छोड़ साधु, पर घर में व्यापृत होता है।
करता निमित्त बल का प्रयोग, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१८॥

सामूहिक भिक्षा त्याग यहाँ, निज जाति पिण्ड को खाता है।
बैठे गृहस्थ के आसन पर, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१९॥

ऐसे पाँच कुशील असंवृत, मुनि स्वरूप धर पथ न गने।
इस जग में विषवत् वह गर्हित, है उभयलोक अपकार करे ॥२०॥

वर्जन करता इन दोषों को, वह सुव्रत साधु प्रवर होता।
[illegible] पूजित इस जग में, वह परभव आराधित बनता ॥२१॥

जो कुछ सुनकर मन शिथिल किए, करता प्रमाद से प्रति-लेखन।
अपमान करे नित गुरुजन का, कहलाता है वह पाप श्रमण ॥१०॥

मायावी वाचाल स्तब्ध, लोभी निग्रह की वृत्ति नहीं।
जो असंविभागी प्रीतिहीन, है पाप श्रमण वह दमी नहीं ॥११॥

जो पाप कर्म में बुद्धि गंवा, उपशान्त कलह भड़काता है।
जो लीन कलह में आग्रह युक्त, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१२॥

अस्थिर आसन चेष्टा वाला, जो जहाँ - तहाँ बैठक करता।
रहता आसन में अनवधान, मुनि पाप श्रमण वह कहलाता ॥१३॥

जो धूल लगे पद सो जाता, शय्या प्रतिलेखन ना करता।
उपयोग शून्य आसन धारी, है पाप श्रमण वह कहलाता ॥१४॥

जो दूध - दही विकृति - भोजन, करता है बारम्बार यहाँ।
रहता है तप से दूर सदा, वह पाप श्रमण प्रख्यात यहाँ ॥१५॥

सूर्य अस्त तक जो भिक्षुक, मन माने भोजन खाता है।
प्रेरित हो प्रत्युपदेश करे, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१६॥

गुरु चरणों की सेवा तज, पाषंड धर्म सेवन करता।
दुश्शील भिक्षु, गण बदलू को, श्रुत पाप श्रमण है बतलाता ॥१७॥

जो अपने घर को छोड़ साधु, पर घर में व्यापृत होता है।
करता निमित्त बल का प्रयोग, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१८॥

सामूहिक भिक्षा त्याग यहाँ, निज जाति पिण्ड को खाता है।
बैठे गृहस्थ के आसन पर, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१९॥

ऐसे पाँच कुशील असंवृत, मुनि स्वरूप धर पथ न चले।
इस जग में विषवत् वह गर्हित, है उभयलोक अपकार करे ॥२०॥

वर्जन करता इन दोषों को, वह सुव्रत साधु प्रवर होता।
[illegible] इस जग में, वह परभव आराधित बनता ॥२१॥

जो कुछ सुनकर मन शिथिल किए, करता प्रमाद से प्रति-लेखन।
अपमान करे नित गुरुजन का, कहलाता है वह पाप श्रमण ॥१०॥

मायावी वाचाल स्तब्ध, लोभी निग्रह की वृत्ति नहीं।
जो असंविभागी प्रीतिहीन, है पाप श्रमण वह दमी नहीं ॥११॥

जो पाप कर्म में बुद्धि गंवा, उपशान्त कलह भड़काता है।
जो लीन कलह में आग्रह युक्त, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१२॥

अस्थिर आसन चेष्टा वाला, जो जहाँ - तहाँ बैठक करता।
रहता आसन में अनवधान, मुनि पाप श्रमण वह कहलाता ॥१३॥

जो धूल लगे पद सो जाता, शय्या प्रतिलेखन ना करता।
उपयोग शून्य आसन धारी, है पाप श्रमण वह कहलाता ॥१४॥

जो दूध - दही विकृति - भोजन, करता है बारम्बार यहाँ।
रहता है तप से दूर सदा, वह पाप श्रमण प्रख्यात यहाँ ॥१५॥

सूर्य अस्त तक जो भिक्षुक, मन माने भोजन खाता है।
प्रेरित हो प्रत्युपदेश करे, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१६॥

गुरु चरणों की सेवा तज, पाषंड धर्म सेवन करता।
दुश्शील भिक्षु गण बदलू को, श्रुत पाप श्रमण है बतलाता ॥१७॥

जो अपने घर को छोड़ साधु, पर घर में व्यापृत होता है।
करता निमित्त बल का प्रयोग, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१८॥

सामूहिक भिक्षा त्याग यहाँ, निज जाति पिण्ड को खाता है।
बैठ गृहस्थ के आसन पर, वह पाप श्रमण कहलाता है ॥१९॥

ऐसे पाँच कुशील असंवृत, मुनि स्वरूप धर पथ न चले।
इस जग में विषवत् वह गर्हित, है उभयलोक अपकार करे ॥२०॥

वर्जन करता इन दोषों को, वह सुव्रत साधु प्रवर होता।
[illegible] [illegible] पूजित इस जग में, वह परभव आराधित बनता ॥२१॥

थे ध्यानलीन वे परम तपी, अनगार मौनव्रत के धारी।
राजा को उत्तर दिया नहीं, भय विकल हुआ राजा भारी ॥९॥

मैं हूँ संजय मुनि मौन त्याग, मुझसे कुछ भी तो बात करें।
हो कुपित श्रमण निज तेजों से, क्रोड़ों मानव का दहन करें ॥१०॥

पार्थिव ![1] करता हूँ अभय तुम्हें, अभयप्रदाता बन जाओ।
क्षणभंगुर संसार बीच क्यों, हिंसा में मन-रस लाओ ॥११॥

जब सभी छोड़कर के निश्चय, परवश हो तुमको जाना है।
फिर क्यों नश्वर इस जीव लोक में, राज्य भोग मन लाना है ॥१२॥

जीवन और यह रूप तेरा, है चपला सम होता चंचल।
राजन् ! जिस पर तू मोहित हो, पर भव हित सोचे ना क्षण पल ॥१३॥

नारी सुत वा बन्धु सखा, जीवित जन के साथी होते।
मर जाने वालों के पीछे, वे कभी न संगी हो जाते ॥१४॥

परम दुःखी हो मृतक पिता को, घर बाहर सुत ले जाते।
ऐसे ही पिता बन्धु सुत को, राजन् ! तप क्यों ना अपनाते ॥१५॥

मृत जन के द्वारा अर्जित धन, और रक्षित रूपवती नारी।
उपभोग अन्य करते उनसे, हो हृष्ट तुष्ट भूषणधारी ॥१६॥

उसने भी जैसे कर्म किए, सुखकारी अथवा दुःखकारी।
बन उसी कर्म को संग लिए, पर भव जाते वे नरनारी ॥१७॥

उन मुनिवर के सुन धर्म-वचन, नृप संजय के मन बोध हुआ।
जगा तीव्र संवेगभाव, विषयों से मन वैराग्य हुआ ॥१८॥

ब्रह्मलोक से च्युत होकर, मैं मानुष भव में आया हूँ।
अपनी पर की है आयु यथा, बस उसे ज्ञात कर पाया हूँ ॥२९॥

नाना मत के भाव और रुचि, मुनि को वर्जन करना है।
हिंसादि अनर्थक जान दोष, सत्ज्ञान मार्ग पर चलना है ॥३०॥

हो दूर प्रश्न वा गृह कार्यों से, दिन रात सत्य का ध्यान करे।
आश्चर्यजनक तत्परता है, यह समझ ज्ञान तप में विचरे ॥३१॥

जो मुझे पूछते अवसर पर, सम्यक् निर्मल मन से बुध जन।
वह प्रगट किया है ज्ञानी ने, है ज्ञान वीर जिनके शासन ॥३२॥

धीर क्रिया पर रुचि रक्खे, अक्रियावाद को दूर करे।
सम्यग्दर्शन से दृष्टि शुद्ध, कर दुष्कर धर्माचरण करे ॥३३॥

सुन अर्थ धर्म से उपशोभित, उपदेश पुण्य-पद मुनिवर का।
तज काम भोग और भारत को, भरतेश्वर पथिक बने शिव का ॥३४॥

सगर भूप ने सागरान्त, भारत का वैभव छोड़ दिया।
ऐश्वर्य - त्याग संयम लेकर, निजकर्म काट भव पार लिया ॥३५॥

महा ऋद्धिशाली चक्री, था मघवा महाकीर्तिधारी।
तज राज्य विभव इस भारत का, हो गया स्वतः दीक्षाधारी ॥३६॥

सनत्कुमार नरपति चक्री, जो रूप सम्पदा का धारी।
सुत का करके राज्याभिषेक, उसने तपधारा हितकारी ॥३७॥

भारत का राज्य छोड़ चक्री, वे शान्तिनाथ साताकारी।
महा ऋद्धिजन ले संयम, हो गये सिद्धि पद अधिकारी ॥३८॥

इक्ष्वाकुवंश का श्रेष्ठ नृपति, था कुन्थु विशद कीर्तिवाला।
उस धैर्यवान ने तप कठोर, कर मोक्ष हस्तगत कर डाला ॥३९॥

वैसे राजर्षि महाबल ने, आकुलता हीन हृदय होकर।
कर उग्र तपस्या शिर देकर, पा लिया मोक्ष साधक बनकर ॥५१॥

ये शूरवीर दृढ़बली भूप, जिन शासन में सब कुछ पाकर।
प्रव्रजित हुए, क्यों हेतु विना, वन मत्त धीर विचरे भूपर ॥५२॥

अतियुक्तियुक्त प्रवचन मैंने, ये कहे सत्य जग सुखदायी।
तिर गये तिरे कइ पाएँगे, भव भार करें जो मन लायी ॥५३॥

कैसे कुहेतु को लेकर के, धृतिमान् लगाये अपना बल।
जो सब संगों से मुक्त यहाँ, वह कर्म रहित होता निर्मल ॥५४॥

जातिस्मरण ज्ञान पाकर, अति ऋद्धिमान रानी सुत को।
हो गया पुरातन भव परिचय, आचरण किया जो मुनिव्रत को ॥८॥

हो गया विमुख वह भोगों से, संयम में मन अनुरक्त रहा।
आकर के जननी जनक पास, उसने यों अपना भाव कहा ॥९॥

मैंने सुना है महाव्रत पाँचों, नरक और तिर्यक् के दुःख।
मात ! अनुज्ञा दें दीक्षा की, भव दुःख से मैं हुआ विमुख ॥१०॥

अम्ब तात ! मैंने भोगे, विपफल सम मीठे भोगों को।
परिणाम कटुक अति दुखदायी, आकर्षक लगते लोगों को ॥११॥

यह अस्थि चर्ममय तन नश्वर, मल युक्त अशुचि से पिण्ड बना।
अस्थिर आवास समझ इसको, यह दुख क्लेशों से पूर्ण सना ॥१२॥

इस अनित्य तन में मैंने, रति भाव नहीं उपलब्ध किया।
पहले वा पीछे त्याग योग्य, जल बुद्बुद् सम अस्तित्व लिया ॥१३॥

मानुष का तन है सारहीन, जो व्याधि और रोगों का घर।
जरा मरण से ग्रस्त विश्व में, रमण करूँ मैं ना क्षण भर ॥१४॥

है जन्म दुःख और जरा दुःख, जग व्याधिमरण के दुःखभारी।
पाते हैं प्राणी जहां कष्ट, संसार अहो ! अतिभय कारी ॥१५॥

भूमि, गेह, सोना, नारी, बान्धव, सुत एवं सुन्दर तन।
परवश हो सब तज जाना है, रुकना न एक भी है पल क्षण ॥१६॥

जैसे ही किम्पाकफलों का, परिणाम नहीं सुन्दर होता।
वैसे इन भोगे भोगों का, परिणाम नहीं हितकर होता ॥१७॥

जो लम्बे मार्ग पर प्रस्थित हो, कुछ सम्बल साथ नहीं लेता।
हो भूख प्यास से पीड़ित वह, पथ चलते अतिचिन्तित होता ॥१८॥

आहार चतुर्विध रजनी में, भोजन का वर्जन करना है।
सन्निधि के संचय का वर्जन, अतिकठिन साधु व्रत धरना है ॥३०॥

भूख प्यास सर्दी गर्मी, और दंशमशक का कष्ट सहन।
दुःखद शय्या आक्रोश वचन, तृणफास और मलधारण तन ॥३१॥

ताडन तर्जन वा वध बन्धन, हैं विविध परीषह मुनि मग में।
याचना अलाभ का कष्ट छुपा, सहना होता भिक्षा जग में ॥३२॥

है कपोत - सी वृत्ति और, अति दारुण दुखद शिरोलुंचन।
है ब्रह्मचर्य सद् आत्मा का, धारण करते विरले सज्जन ॥३३॥

हे पुत्र ! योग्य सुख के तुम हो, सुकुमार सुमार्जित बचपन से।
निश्चय समर्थ तुम नहीं अहो, मुनिपद पालन करने जैसे ॥३४॥

है संयम गुण का भार महा, विश्राम नहीं है आजीवन।
यह लोहभार सम गुरुतर है, जिसका ढोना है महाकठिन ॥३५॥

नभ गंगा के स्रोत तुल्य, प्रति स्रोत गमन जैसे दुस्तर।
भुज युग[1] से सागर तिरने सम, है पार गुणोदधि का दुस्तर ॥३६॥

संयम है रेत-कवल जैसे, निस्वाद और रसहीन यहाँ।
असिधारा पर चलने सम है, तप साधन करना कठिन महा ॥३७॥

एकाग्रदृष्टि से सर्पतुल्य, मुनिव्रत का पालन महाकठिन।
लोहे के जौ चर्वण[2] जैसा, चारित्र पालना बहुत कठिन ॥३८॥

जैसे जलती अग्नि शिखा को, पीना होता अति दुष्कर है।
वैसे यौवन में श्रमणधर्म, पालन उससे भी दुस्तर है ॥३९॥

महा दवानल तीव्र-ज्वाल में, मरु की वज्र-वालुका[1] पर।
अमितवार मैं गया जलाया, सरित्-कदम्ब[2] की रेती पर ॥५०॥

रोता बन्धु हीन कुम्भी में, वांधा था ऊपर लटका कर।
काटा गया अमित वार मैं, करवत या आरा में देकर ॥५१॥

अत्यन्त तीक्ष्ण काँटों वाले, सीमल के ऊँचे तरु ऊपर।
क्षेपित हुआ पाश में बंधकर, खींचे जाने से इधर-उधर ॥५२॥

महायन्त्र में इक्षु सदृश, निज कर्मों से पीला जाकर।
है दारुण शब्द किये मैंने, वहुवार पाप का संचय कर ॥५३॥

काले शवल श्वान सूकर से, क्रन्दन करता मैं इधर उधर।
काटा फाड़ा और गिराया, गया वहुत ही इस भूपर ॥५४॥

अलसी रंग समान भल्ल, लोहकदण्डों तलवारों से।
हुआ प्रखण्डित छिन्न-भिन्न, मैं पाप कर्म के भारों से ॥५५॥

ज्वालायुक्त कील वाले, अयरथ[3] में विवश बना जोड़ा।
रोझ सदृश चाबुक कीलों से, हाँक गिरा तन को तोड़ा ॥५६॥

गया जलाया और पकाया, ज्वलित चितानल में देकर।
परवश ढंका पाप कर्मों से, भैंसे सम मैं दुख में पड़कर ॥५७॥

संदंश तुण्ड और लोह तुण्ड, में ढँक गृद्ध पक्षीगण से।
बहुधा बलपूर्वक रुदन सहित, नोचा जाता था मैं उनसे ॥५८॥

मैं वैतरणी के तट पहुँचा, दौड़ा अति प्यास विकल होकर।
सोचा था, जल पीऊँगा, पर छुरिका से चीरा था धर कर ॥५९॥

सदा भीत संत्रस्त दुःखित, और व्यथित रूप होकर हमने।
परम दुःखमय तीव्र व्यथा, का अनुभव किया बहुत हमने ॥७१॥

तीव्र चण्ड अति दुसह भयद, जो घोर प्रगाढ़ व्यथा भारी।
नरक लोक में तीव्र व्यथा के, अनुभव की आयी थी वारी ॥७२॥

हे तात ! मनुज के इस भव में, जो व्यथा दिखाई देती है।
इससे अनन्त-गुण बढ़ी व्यथा, नरकों में पायी जाती है ॥७३॥

अनुभव किया सभी जन्मों में, मैंने अतिशायी दुःख व्यथा।
अन्तर निमेप का भी न मिला, हो साता जिसमें नहीं व्यथा ॥७४॥

फिर मात-पिता ने कहा पुत्र !, इच्छानुसार मुनि बन जाना।
पर नहीं चिकित्सा मुनि-मग में, तू इसे ध्यान में ले जाना ॥७५॥

उसने कहा तात ! ऐसा हो, कहा आपने जो हमको।
वन में कौन चिकित्सा करता, पीड़ित मृग पक्षी के तन में ॥७६॥

वन में जैसे हिरण अकेला, स्वच्छन्द विचरता रहता है।
ऐसे संयम तप से युत मैं, भी करूँ धर्म मन कहता है ॥७७॥

जैसे किसी महावन में, मृग को आतंक उदय लेता।
रहे वृक्ष के मूल वहाँ, उसका उपचार कौन करता ॥७८॥

देता है उसको कौन दवा, और कौन पूछता सुख की बात।
कौन उसे खाने पीने को, देता लाकर पानी भात ॥७९॥

जब होता है स्वस्थ हिरण, गोचर को तब वह जाता है।
खाने पीने हित लता कुञ्ज, और जल तट पर वह आता है ॥८०॥

लताकुञ्ज और जलाशयों पर, खा पीकर मोद मानता है।
मृग की चर्या में चलकर के, एकान्त शान्तिरथ जाता है ॥८१॥

अशुभ कर्मों के द्वारों का, सब ओर मार्ग अवरोध करे।
अध्यात्म ध्यान के योगों से, शुभ संयम शासन में विचरे ॥९३॥

ऐसे सम्यग् ज्ञान-चरण से, दर्शन और तपस्या कर।
अतिशय शुद्ध भावना भावित, सम्यक् आत्मा को उज्ज्वल कर ॥९४॥

बहुत वर्ष तक श्रमण धर्म का, शुद्ध भाव से पालन कर।
श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त किया, वह मासभक्त का अनशन कर ॥९५॥

सम्बुद्ध विज्ञ ऐसा करते, जो धर्म विचक्षण होते हैं।
मृगापुत्र ऋषिवर सम जो, भोगों से उन्मुख होते हैं ॥९६॥

महा प्रभावी महायशस्वी, मृगापुत्र का चरित कथन।
तपः प्रधान श्रेष्ठ गतिवाला, लोक विदित सुन शुभ वर्णन ॥९७॥

जान जगत् में दुखवर्द्धक धन, अति भयप्रद ममता बन्धन।
सुखकर मोक्ष प्रदायक उत्तम, धर्म धुराधर लेना मन ॥९८॥

★

मैं हूँ राजन ! जग में अनाथ, है नाथ नहीं कोई मेरा।
ऐसा न किसी को पाता हूँ, अनुकम्पक हो या मित्र मेरा ॥९॥

यों सुन वह मगधाधिप श्रेणिक, प्रहसित मुख उस मुनि से बोला।
तुम जैसे ऋद्धियुक्त नर को, है नाथ कहो कैसे न मिला ॥१०॥

होता हूँ नाथ तुम्हारा मैं, संयत भोगों का भोग करो।
हो मित्र ज्ञाति जन से परिवृत, दुर्लभ नर भव को सफल करो ॥११॥

हे मगधाधिप ! श्रेणिक तुम तो, अपने भी पूरे नाथ नहीं।
जो स्वयं अनाथ वह हो कैसे, पर का जगत में नाथ सही ॥१२॥

नरपति पहले से विस्मित था, संभ्रान्त हुआ फिर यों सुनकर।
मुनिवर के अश्रुत पूर्व वचन से, प्रेरित वह बोला विस्मय भर ॥१३॥

हैं हाथी घोड़े नर मेरे, अन्तःपुर एवं नगर बड़ा।
मैं भोग रहा नर भोगों को, आज्ञा में पुरजन सभी खड़ा ॥१४॥

सब काम भोग मिलते जिससे, वैसी सम्पत्ति जहाँ पर हो।
कैसे अनाथ वह कहलाये, मुनिवर असत्य मत हमें कहो ॥१५॥

तू नहीं जानता है अनाथ, और, नाथ शब्द का अर्थ कहा।
जैसा अनाथ होता राजन्, एवं सनाथ का अर्थ यहाँ ॥१६॥

एक चित्त से सुनो भूप, तजकर मन से वैभव का मद।
जैसे अनाथ जग होता है, कैसे मैं बोल गया वह पद ॥१७॥

प्राचीन नगर को [illegible], कौशाम्बी नामा है नगरी।
रहते थे वहाँ पिता मेरे, जिनकी संपद है गांठभरी ॥१८॥

[illegible] मेरे आँखों में, हो गई वेदना अतुल वहाँ।
[illegible] सर्वांगों में, विस्तीर्ण दाह तन व्यथित जहाँ ॥१९॥

हे महाराज ! उस बाला ने, ना की मुझसे क्षण भी दूरी।
फिर भी न व्यथा कर सकी दूर, बस यही अनाथता है मेरी ॥३०॥

तब हार कहा मैंने ऐसे, जगती में दुस्सह बार-बार।
इस परम वेदना का अनुभव, करना पड़ता है अमित बार ॥३१॥

विपुल वेदना से हो जाऊँ, यदि एक बार मैं मुक्त यहाँ।
तो क्षान्त दान्त और निरारंभ, मुनि पद कर लूँ स्वीकार यहाँ ॥३२॥

हे राजन् ! ऐसा चिन्तन कर, सो गया शान्ति धारण करके।
बीती रात्रि मिट गयी व्यथा, क्षण पल में मुझको तज करके ॥३३॥

हो स्वस्थ सवेरे पूछ बन्धु, प्रव्रजित हुआ मैं छोड़ सभी।
बन शान्त दान्त और निरारंभ, मुनिमार्ग पकड़कर चला तभी ॥३४॥

तब ही से मैं नाथ हुआ हूँ, अपना और परायों का।
त्रस एवं स्थावर प्राणी का, जगती भर के सब जीवों का ॥३५॥

आत्मा है सरिता वैतरनी, है कूटशाल्मली आत्मा ही।
आत्मा मेरी है कामधेनु, नन्दन कानन भी बनी रही ॥३६॥

दुःख सुख का कर्ता आत्मा है, एवं उनका क्षयकर्ता है।
विपरीत मार्ग रत-शत्रु और, शुभ कार्य लग्न सुखकर्ता है ॥३७॥

यह और अनाथता है राजन्, एकाग्र शान्त हो सुन लेना।
जैसे मुनि धर्म ग्रहण कर भी, सीदित होते कातर नाना ॥३८॥

स्वीकार महाव्रत जो करके, पालन प्रमाद वश करे नहीं।
रस गृद्ध असंयत वह जड़ से, बन्धन का छेदन करे नहीं ॥३९॥

ईर्या भाषा तथा एषणा, निक्षेपादान जुगुप्सा में।
जिसकी सतर्कता रहे नहीं, जाता न वीर के वह पथ में ॥४०॥

चोर देख वैराग्य जगा, फिर समुद्रपाल बोला ऐसा।
अहो ! अशुभ कर्मों का फल, अवसान कटुक होता कैसा ॥९॥

सम्बोध प्राप्त कर ज्ञानवान, वैराग्य परम वह प्राप्त किया।
मात पिता की अनुमति पा, अनगार प्रव्रज्या मार्ग लिया ॥१०॥

अति मोहपूर्ण आसक्ति भाव, तज महा क्लेश अति भयकारी।
व्रतशील परीषह के सहिष्णु, पर्याय धर्म में रुचिधारी ॥११॥

व्रत सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य, अस्तेय असंग्रह जिनदेशित।
कर पंच महाव्रत को धारण, विचरे निर्मल मन वह पण्डित ॥१२॥

सब जीवों पर दयानुकम्पी, क्षमता से सहे ब्रह्मचारी।
सावद्य योग का वर्जन कर, विजितेन्द्रिय विचरे व्रतधारी ॥१३॥

उचित काल सब कार्य करे, निजशक्ति समझ कर जग विहरे।
दारुण शब्दों से हरिसम जो, अप्रिय बोले ना त्रास धरे ॥१४॥

मध्यस्थ चले जग की सुनकर, प्रिय अप्रिय सब को सहन करे।
ना सबमें वैसी चाह करे, पूजा निन्दा न चित्त धरे ॥१५॥

विविध भाव होते मनुजों में, जिनको मुनि मन नियमन करते।
भय से दारुण हो कष्ट वहाँ, तिर्यंग् नर या सुरके होते ॥१६॥

आते परिषह दुस्सह अनेक, अतिकायर खिन्न जहाँ होते।
पाकर उनको ना व्यथित बने, रण मुख गजेन्द्र समस्थिर रहते ॥१७॥

शीतोष्ण, मशक, तृण, स्पर्श दंश, आतंक विविध तन स्पर्श करे।
मुनि शांत भाव से सहन करे, कृत पूर्व कर्म को दूर करे ॥१८॥

राग द्वेष और मोह त्याग कर, संत विचक्षण नित्य कहाँ।
शत्रु अरु मित्र सम तुल्य हो, आत्म गुप्त दुःख सहे वहाँ ॥१९॥

वह जीव विनाशक सारथि के, सुन वचन नेमिवर खिन्न हुए।
उस महाप्राज्ञ ने यह सोचा, जीवों पर करुणा भाव लिए ॥१८॥

मेरे कारण इन जीवों की, जो हिंसा होगी भयकारी।
यह मेरे लिए नहीं श्रेयस्—परभव में होगा सुखकारी ॥१९॥

वह महायशस्वी राजपुत्र, कटिसूत्र और कुण्डल जोड़े।
दे दिए हर्ष से सारथि को, आभूषण तन के सब छोड़े ॥२०॥

व्रतभाव जगे जब ही मन में, औचित्य मनाने सुर आए।
परिषद् के संग सकल वैभव, वे अपने साथ लिए आए ॥२१॥

देव मनुष्यों से घिरकर, वे शिविका पर आरूढ़ हुए।
द्वारिकापुरी से चल करके, गिरिनार धाम जा ठहर गए ॥२२॥

उद्यान पहुँच वे रिठनेमि, शिविका से नीचे उतर गए।
थे उनके साथ हजारों जन, चित्रा में वे निष्क्रमण किए ॥२३॥

सौरभ से सुरभित अतिकोमल, घुँघराले बालों को प्रभु ने।
हो शान्त भाव से पंचमुष्टि, निज लोच किया जिन मुनि बनने ॥२४॥

उस लुप्तकेश और इन्द्रियजित, प्रभु से बोले यों वासुदेव।
तुम इष्ट मनोरथ शीघ्र प्राप्त, करलो जग में हे दमी देव! ॥२५॥

दर्शन तथा ज्ञान बल से, एवं शुभ चारित्रिक बल से।
तुम बढ़ो सदा इस जीवन में, पालन कर क्षान्ति मुक्त मन से ॥२६॥

ऐसे वे राम तथा केशव, यदुश्रेष्ठ और कितने ही जन।
द्वारिकापुरी को लौट गये, करके मुनिवर को हित वन्दन ॥२७॥

जिन सखियों में वह राज सुता, मुनिवर में उनकी दीक्षा सुनकर।
हो गयी शोक में लीन, हँसी, आनन्द और खुशियाँ तजकर ॥२८॥

वैश्रमण रूप से यदि तुम हो, लालित्य छटा से नलकूबर।
फिर भी न कभी मैं चाह करूँ, तुम चाहो शक्र बनो भू पर ॥
धूमकेतु जलते पावक में, सर्प अगन्धनकुल वाले।
करते प्रवेश पर वान्त नहीं, पीते जीवन की इच्छा ले ॥४१॥

हे अयशकाम ! धिक्कार तुम्हें, जो तू भोगों के कारण से।
यह वान्त भोग पीना चाहो, है मरण श्रेष्ठ तन धारण से ॥४२॥

मैं भोजराज की पुत्री हूँ, तुम अन्धककुल के हो भूषण।
हम गन्धक अहि सम बने नहीं, निश्चल मन संयम कर पालन॥४३॥

यदि देख-देख नारी जन को, उनके प्रति राग करोगे तो।
पवनाहत हड जैसे जग में, तुम अस्थिर चित्त बनोगे तो ॥४४॥

गोपाल और जो भांडपाल, होते ना स्वामी उस धन के।
श्रामण्य भाव के तुम भी त्यों, स्वामी न बनोगे जीवन के ॥
तू क्रोध मान का निग्रह कर, तज माया एवं लोभ सभी।
इन्द्रिय गण को वश में लेकर, हो स्वयं पाप से दूर अभी ॥४५॥

संयम शीला उस राजिमती के, हितकारी वचनों को सुनकर।
अंकुश से गजवत् रथनेमि, सद्धर्म मार्ग में हुए अचर ॥४६॥

हो गया जितेन्द्रिय, मन वाणी, और गुप्तकाय से भी निश्चल।
सुस्थिर मुनिव्रत का स्पर्श किया, आजीवन धारणकर व्रत निर्मल ॥४७॥

अतिउग्र तपस्या को करके, बन गए केवली वे दोनों।
सारे कर्मों का क्षय करके, पा गए श्रेष्ठ सिद्धि दोनों ॥४८॥

सम्बुद्ध विचक्षण पण्डित जन, ऐसा ही जग में करते हैं।
जैसे रथनेमि हुए वैसे, भोगोपभोग से हटते हैं ॥४९॥

केशी और गौतम विचर रहे, उज्ज्वल संयम यश के धारी।
थे दोनों मुनिवर ज्ञान लीन, तप संयम समता के धारी ॥९॥

दोनों के मुनि संघों में, संयमी तपस्वी जन गण में।
एक तात्त्विक चिन्ता उदित हुई, दोनों त्रायी गुणवन्तों में ॥१०॥

है कैसा धर्म हमारा यह, अथवा यह धर्म अहो कैसा।
आचार धर्म यह अथवा वह, दोनों में भेद कहो कैसा ॥११॥

है किया पार्श्व ने प्रतिपादन, यह चातुर्यामिक पथ जग में।
है पंच महाव्रत मय शिवपथ, प्रभु वर्धमान का व्रत जग में ॥१२॥

है धर्म अचेलक वर्धमान का, पार्श्व-धर्म शुभ-वस्त्र सहित।
एक कार्य करने वाले, दो में ऐसा क्यों भेद विहित ॥१३॥

केशी गौतम ने शिष्यों के, इस तर्कवाद को सुन करके।
मन ही मन स्वयं विचार किया, निर्णय करना सब मिल करके ॥१४॥

विनय-धर्म ज्ञाता गौतम, निज शिष्य संघ से घिरे हुए।
आदर करने हित ज्येष्ठ वंश को, तिन्दुकवन चलकर आए ॥१५॥

केशी ने अपनी सन्निधि में, गौतम मुनि को देखा आया।
यथायोग्य सन्मान भक्तिकर, निज मन को सन्तुष्ट किया ॥१६॥

जीव रहित शालि आदिक के, पंचम पयाल कुश तृण लाये।
गौतम के आसन हित उनने, शीघ्रातिशीघ्र सब लगवाये ॥१७॥

केशी श्रमण और गौतम, दोनों ही शुभ यश के धारी।
चन्द्र-सूर्य सम बैठे दोनों, शोभा पाते व्रतधारी ॥१८॥

[illegible] के [illegible] भी आए, कौतुकगामी कई दर्शन को।
[illegible], जुट गये ज्ञान रस पीने को ॥१९॥

हैं दृष्टि बन्द करने वाले, अति निविड़ तिमिर में जीव पड़े।
उन सारे जीवों को जग में, उद्योत बताओ कौन करे ॥७५॥

जो सकल लोक उद्योत करे, निर्मल दिनकर है हुआ उदित।
वही करेगा सब जग के, प्राणीगण का मन आलोकित ॥७६॥

है भानु यहाँ किसको कहते, केशी ने पूछा गौतम को।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम यों वचन कहे उनको ॥७७॥

हो गया क्षीण भव भय जिसका, सर्वज्ञ वही है जिन भास्कर।
वह सभी लोक के प्राणी का, अन्तर्मन कर देगा भास्वर ॥७८॥

हे गौतम! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, उसको बतला दो हो निर्भय ॥७९॥

तन मन के दुःखों से पीड़ित, इन जग जीवों के लिए यहाँ।
क्षेमंकर शिव और निराबाध, तुम मान रहे हो स्थान कहाँ ॥८०॥

है ध्रुवस्थान जग के ऊपर, जिसको पाना है बड़ा कठिन।
है नहीं वेदना और व्याधि, जरता का संशय तथा मरण ॥८१॥

केशी ने गौतम को पूछा, वह स्थान कौनसा यहाँ कहा।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम ने उत्तर निम्न कहा ॥८२॥

निर्वाण अबाधित और सिद्धि, लोकाग्र स्थान भी इसे कहा।
शिव क्षेम उपद्रव रहित स्थान, जिस पर जाते हैं श्रमण महा ॥८३॥

वह लोक शिखर पर स्थान रहा, शाश्वत पद पाना है दुर्लभ।
भव भ्रमण अन्त करने वाले, करते न शोक पाकर मुनिजन ॥८४॥

समता से होता श्रमण सही, है ब्रह्मचर्य से सद्ब्राह्मण।
ज्ञानाराधन से मुनि होता, तापस होता कर तप साधन ॥३०॥

कर्मों से ब्राह्मण होता है, कर्मों से क्षत्रिय वन जाता।
हैं वैश्य कर्म से ही होते, और शूद्र कर्म से ही होता ॥३१॥

जिनवर ने प्रकट किये इनको, जिनसे स्नातक हो जाते हैं।
जो सव कर्मों से विनिर्मुक्त, हम उसको ब्राह्मण कहते हैं ॥३२॥

यों सद्गुण संयुत् जो होते, वे द्विज उत्तम कहलाते हैं।
निज पर के उद्धार करण में, वे समर्थ जग होते हैं ॥३३॥

ऐसे संशय के हटने पर, वह विजयघोप नामक ब्राह्मण।
सव भाँति समझकर ग्रहण किया, जयघोप श्रमण का सद्भापण ॥३४॥

अव विजय घोप सन्तुष्ट हुआ, और हाथ जोड़ वोला उनको।
जैसा स्वरूप है माहन का, समझाया अच्छा है हमको ॥३५॥

तुम ही सद्यज्ञों के कर्ता, वेदज्ञ विचक्षण भी हो तुम।
तुम ज्योतिपांग के ज्ञाता हो, धर्मो के पारग[1] भी हो तुम ॥३६॥

निज पर के उद्धारकरण में, तुम समर्थ और अटल रहे।
अव करो अनुग्रह भिक्षु श्रेष्ठ, भिक्षा इच्छा भर ग्रहण करें ॥३७॥

मुझको न कार्य है भिक्षा से, द्विज ! शीघ्र प्रव्रज्या धारणकर।
इस भयावर्त भवसागर में, मत और लगाना तुम चक्कर ॥३८॥

भोगों में बन्धन होता है, होता न लिप्त जो भोग रहित।
भोगी संसार भ्रमण करता, होता विमुक्त जो राग रहित ॥३९॥

सूखे व गीले मिट्टी के, दो गोले फेंके संग गए।
दोनों ही गिरे भीत ऊपर जो गीले उन पर चिपक गए ॥४०॥

२६ : समाचारी

मैं समाचारी वतलाऊँ, जो सव दुःखों को देती टार।
निर्ग्रन्थ श्रमण जिनका पालन, कर भवसागर को करते पार ॥१॥

है आवस्सिया पहली गायी, दूजी निसीहिया वतलायी।
है आपृच्छना तीजी कहते, प्रतिपृच्छा चौथी सुखदायी ॥२॥

छन्दना नाम पंचम का है, छट्ठी मर्यादा इच्छा है।
सप्तम को मिथ्याकार कहा, तहकार आठवाँ अच्छा है ॥३॥

उत्थान समाचारी नवमी, दशवीं उपसम्पद् समझाई।
प्रभु ने दशांग की मर्यादा, मुनिजन के हित ये वतलाई ॥४॥

आवस्सिया जाते कहना, फिर आते निसीहिया कहना।
आपृच्छा अपने कार्य समय, पर कार्य पुनः पृच्छा करना ॥५॥

छन्दना प्राप्त द्रव्यों मे हो, और स्मारण में इच्छाकार कहे।
निन्दा में मिथ्याकार कहा, और श्रवण समय तहकार कहे ॥६॥

उत्थान विनय गुरु पूजा में, उपसम्पद् ज्ञानार्थ रहे।
इस तरह बोल मर्यादा के दस, मुनि जन के हित गए कहे ॥७॥

प्रथम पहर के पूर्व भाग में, सूर्य गगन में उग आवे।
प्रतिलेखन कर भाण्डादिक, फिर गुरुजन वन्दन कर आवे ॥८॥

फिर हाथ जोड़ पूछे गुरु से अब क्या करना गुरुवर हमको।
सेवा या स्वाध्याय किसी में, करें नियोजन गुरु मुझको ॥९॥

नभ के अन्तिम चतुर्भाग में, नक्षत्र वही जब आ जाये ।
वैरात्रिक भी काल जान, स्वाध्याय कार्य में लग जाये ॥२०॥

दिन प्रथमप्रहर के प्रथमभाग में, कर भाण्डों का प्रतिलेखन ।
दुःख मोचक स्वाध्याय करे, कर प्रथम पूज्य गुरु को वन्दन ॥२१॥

पौन पौरुषी के बीते, गुरु के चरणों में वन्दन कर ।
प्रतिक्रमण बिन किये काल का, भाजन का प्रतिलेखन मन धर ॥२२॥

मुँहपत्ती प्रतिलेखन कर, फिर गोच्छग का हो प्रतिलेखन ।
अंगुलि गृहीत गोच्छग वाला, वस्त्रों का करले प्रतिलेखन ॥२३॥

ऊर्ध्व सुथिर और त्वरारहित, पहले ही पट पर नजर करे ।
फिर जीव हटा झटके पीछे, तीजे परिमार्जन चित्त धरे ॥२४॥

तन, या पट ना अधर झुलावे, मोड़े अनुबन्ध न स्पर्श करे ।
छह पूर्व और नौ खोटक कर, करतल ले प्राणी दूर करे ॥२५॥

छोड़े आरभटा सम्मर्दा, तीसरी मौशली दोष कहा ।
प्रस्फोटना और फिर विक्षिप्ता, वेदिका दोष है षष्ठ रहा ॥२६॥

प्रशिथिल प्रलम्ब लोल एका-मर्शा अनेक संगले धूनना ।
होता प्रमाण में है प्रमाद, फिर करांगुली गणना धरना ॥२७॥

अनतिरिक्त अन्यून तथा, विपरीत न पट का प्रतिलेखन ।
इनमें प्रशस्त पहला विकल्प, और अप्रशस्त है सभी कथन ॥२८॥

प्रतिलेखन करता जो मिलकर, वार्ता या देशकथा करता ।
प्रत्याख्यान कराता पर को, पाठ पढ़ाता या पढ़ता ॥२९॥

पृथ्वी जल एवं तेज पवन, वनकाय और है त्रसकायिक ।
प्रतिलेखन में यदि हो प्रमाद, बाधक होना षट्कायिक ॥
पृथ्वी जल पावक और पवन, वनकाय और है त्रसकायिक ।
प्रतिलेखन में उपयोग सहित, होना सबका वह आराधक ॥३०॥

कायोत्सर्ग पारित करके, गुरुवर को करले फिर वन्दन ।
स्तुति मंगल नित्यकृत्य करके, फिर करे काल का प्रतिलेखन ॥४२॥

प्रथम प्रहर स्वाध्याय और, हो द्वितीय ध्यानका समयनियत ।
प्रहर तीसरे में निद्राले फिर, चौथे में स्वाध्याय नियत ॥४३॥

प्रतिलेखन स्वाध्याय काल का, प्रहर चतुर्थी में करते ।
फिर शान्त चित्त स्वाध्याय करे, गृहि-जन को बिन जागृत करते ॥४४॥

फिर पौन पौरुषी के बीते, गुरु के चरणों में कर वन्दन ।
करे काल का प्रतिक्रमण, और करे काल का प्रतिलेखन ॥४५॥

सब दुःख मुक्त करने वाले, उत्सर्गकाल के आने पर ।
सब दुःख विमोचक हेतु पुनः, उत्सर्ग करे हर्षित मुनिवर ॥४६॥

चारित्र, ज्ञान और दर्शन में, अतिचार लगा जो जीवन में ।
अनुक्रम से उनका करे ध्यान, रजनी के दोषों का मन में ॥४७॥

कायोत्सर्ग पारित करके, गुरु के चरणों में कर वन्दन ।
अतिचार रात्रि से सम्बन्धित, अनुक्रम से कर ले आलोचन ॥४८॥

कर दोषशुद्धि हो शल्यहीन, फिर गुरु चरणों में वन्दन कर ।
कायोत्सर्ग करे मुनिवर, सब दुःख मुक्ति का सत्पथ धर ॥४९॥

क्या करूँ तपस्या मैं धारण, उत्सर्ग समय यों ध्यान करे ।
करके कायोत्सर्ग पूर्ण, फिर गुरु वन्दन का ध्यान धरे ॥५०॥

कायोत्सर्ग पारित करके, फिर साधु करे गुरु का वन्दन ।
तप को सम्यक धारण करके, फिर करे सिद्ध संस्तुतिगायन ॥५१॥

संक्षेप रूप से यहाँ कहा, मैंने मुनि की समाचारी ।
कर पालन जिसका तिरे कई दुस्तर भवसागर संसारी ॥५२॥

कायोत्सर्ग पारित करके, गुरुवर को करले फिर वन्दन।
स्तुति मंगल नित्यकृत्य करके, फिर करे काल का प्रतिलेखन ॥४२॥

प्रथम प्रहर स्वाध्याय और, हो द्वितीय ध्यानका समयनियत।
प्रहर तीसरे में निद्राले फिर, चौथे में स्वाध्याय नियत ॥४३॥

प्रतिलेखन स्वाध्याय काल का, प्रहर चतुर्थी में करते।
फिर शान्त चित्त स्वाध्याय करे, गृहि-जन को बिन जागृत करते ॥४४॥

फिर पौन पौरुषी के बीते, गुरु के चरणों में कर वन्दन।
करे काल का प्रतिक्रमण, और करे काल का प्रतिलेखन ॥४५॥

सब दुःख मुक्त करने वाले, उत्सर्गकाल के आने पर।
सब दुःख विमोचक हेतु पुनः, उत्सर्ग करे हर्षित मुनिवर ॥४६॥

चारित्र, ज्ञान और दर्शन में, अतिचार लगा जो जीवन में।
अनुक्रम से उनका करे ध्यान, रजनी के दोषों का मन में ॥४७॥

कायोत्सर्ग पारित करके, गुरु के चरणों में कर वन्दन।
अतिचार रात्रि से सम्बन्धित, अनुक्रम से कर ले आलोचन ॥४८॥

कर दोषशुद्धि हो शल्यहीन, फिर गुरु चरणों में वन्दन कर।
कायोत्सर्ग करे मुनिवर, सब दुःख मुक्ति का सत्पथ धर ॥४९॥

क्या करूँ तपस्या मैं धारण, उत्सर्ग समय यों ध्यान करे।
करके कायोत्सर्ग पूर्ण, फिर गुरु वन्दन का ध्यान धरे ॥५०॥

कायोत्सर्ग पारित करके, फिर साधु करे गुरु का वन्दन।
तप को सम्यक् धारण करके, फिर करे सिद्ध संस्तुतिगायन ॥५१॥

संक्षेप रूप से कही यहाँ, मैंने मुनि की समाचारी।
कर पालन इसका तिरे बहुत, दुस्तर भवसागर संसारी ॥५२॥

२७ : खलुंकीया

करे ऋद्धिगौरव कोई, रस-गौरव कोई मन धरता।
सातासुख का कोई मान करे, चिर काल क्रोधकर खुश होता ॥९॥

आलसी एक भिक्षा में हो, अपमान-भीरु कोई स्तब्ध रहे।
हेतु और कोई कारण से, अनुशासित होकर मार्ग वहे ॥१०॥

अनुशासित अन्तर में बोले, दुर्मेधा अतिशय दोष करे।
आचार्य वचन प्रतिकूल करे, दे युक्ति वचन का काट करे ॥११॥

नहीं जानती वह गृहिणी, ना कुछ भी वह हमको देगी।
जायें कोई वहाँ अन्य, वह निकल गयी बाहर होगी ॥१२॥

भेजे किसी कार्य पर तो, छल कर बोले ना कार्य करे।
चहुँ ओर फिरे गुरु आज्ञा को, बेगार समझ मुख भृकुटि धरे ॥१३॥

दीक्षा शिक्षा दे पढ़ा शास्त्र, दे भक्तपान से पुष्ट किये।
ज्यों हंस पोत कर प्राप्त पंख, दश दिशि जाते त्यों शिष्य गये ॥१४॥

सारथिसम सोचे गणि मन में, खुल्लक[1] संग मिला मुझको।
इनसे मिलता क्या लाभ मुझे, होता है दुःख अन्तर मन को ॥१५॥

ये मूर्ख शिष्य जैसे मेरे, हाँ गलियों के रासभ वैसे।
गलि-गर्दभ शिष्यों को तजकर, पकड़ूँ तप का पथ दृढ़ मन से ॥१६॥

अन्तर बाहर मृदुता वाले, गम्भीर समाहित मन वाले।
पृथ्वी पर विचरे गर्ग श्रमण, निर्मल आचारी तप वाले ॥१७॥

१ [illegible]

२८ : मोक्ष-मार्ग-गति

चारित्र प्रथम है सामायिक, दूजा छेदोपस्थापन है।
परिहार विशुद्ध है तपसाधन, चौथा कपाय अतिशय लघु है ॥३२॥

यथाख्यात निर्मोह भाव, छद्मस्थ तथा जिनको होता।
करता संचित है कर्मरिक्त, चारित्र वही है कहलाता ॥३३॥

अन्तर वाह्य भेद दो तप के, वीर प्रभु ने वतलाये।
है छः प्रकार का वाह्य और, आन्तर तप भी पड्विध गाये ॥३४॥

है ज्ञान तत्व को जतलाता, दर्शन से श्रद्धा पाता है।
चारित्र कर्म का रोध करे, तप से संचित क्षय होता है ॥३५॥

संयम से आते कर्म रोक, संचित तप से क्षय करते हैं।
सकल दुःख क्षय करने को, ऋपिवर वलवीर्य लगाते हैं ॥३६॥

सूत्रों के पुनरावर्तन से, भन्ते ! क्या प्राणी पाता है ?
परावर्तना से प्राणी, अक्षर संयोग मिलाता है ॥
परिपक्व पाठ करके फिर वह, विस्मृत की याद वढ़ाता है ।
व्यंजन लब्धि कर प्राप्त ज्ञान, श्रुत को निर्मल कर पाता है ॥२१॥

भन्ते ! अनुप्रेक्षा से प्राणी, क्या इस जग में फल पाता है ?
आयु कर्म को छोड़ प्रकृति, दृढ़ वन्धन शिथिल वनाता है ॥
सप्त कर्म की चिरकालिक, स्थिति अल्पकाल कर देता है ।
उनके तीव्र सकल अनुभव को, मन्दरूप कर देता है ॥
वह प्रदेश को कर देता है, अल्प प्रदेश में परिवर्तन ।
करता स्यात् नहीं भी करता, आयु कर्म का वह बन्धन ॥
असात वेदनीय का वहुश:, उपचय वह यहाँ नहीं करता ।
अनाद्यनन्त भव-वन का पथ, लघुकर वह शीघ्र पार करता ॥२२॥

भन्ते ! धर्मकथा से प्राणी, लाभ कहो क्या पाता है ?
करके कर्म निर्जरा एवं, जिन शासन द्युति फैलाता है ॥
प्रवचन प्रभाव करने वाला, आगे इस जगती में चलता ।
कल्याणक फल देने वाले, कर्मों का अर्जन है करता ॥२३॥

भन्ते ! श्रुत के आराधन से, प्राणी क्या जग में है पाता ?
करता है अज्ञान नष्ट, संक्लेशों से वह बच जाता ॥२४॥

एकाग्र चित्त धारण कर भन्ते, प्राणी क्या जग में पाता है ?
मन को एकाग्र बनाने से, मन का निरोध हो जाता है ॥२५॥

भन्ते ! संयम को धारण कर, प्राणी क्या जग में पाता है ?
संयम आराधन से प्राणी, आस्रव निरोध कर जाता है ॥२६॥

भन्ते ! तप के आराधन से, प्राणी क्या जग में पाता है ?
तप से कर संचित कर्मक्षीण, प्राणी विशुद्धि पा जाता है ॥२७॥

पर निमित्त से लब्ध द्रव्य में, वे लेते हैं स्वाद नहीं।
करते ना उसकी स्पृहा प्रार्थना, चाह हृदय में धरे नहीं॥
पर प्राप्त कभी भिक्षान्नों में, आस्वाद न लेता व्रती वहाँ।
रखता न चाह उसकी मन में, पर-लाभ स्पृहा ना करे यहाँ॥
प्रार्थना तथा अभिलाषा भी, इस जग में परकी ना करता।
पाकर वह दूजी सुख शय्या, निस्पृह मन से विचरण करता॥३३॥

उपधि त्याग से क्या प्राणी, भन्ते ! इस जग में है पाता?
उपधिहीन स्वाध्याय ध्यान के, अन्तराय से बच जाता॥
उपधिरहित कांक्षा से हटकर, होता जगती में शोक मुक्त।
उसको अलाभ पाकर न कभी, संक्लेश हृदय को करता तप्त॥३४॥

आहार त्याग करके प्राणी, भन्ते ! क्या जग में है पाता?
लम्बे जीवन की इच्छा को, इससे वह यहाँ काट देता॥
जीवन की इच्छा का जिसने, विच्छेद किया अन्तर्मन में।
करता न कभी संक्लेश प्राप्त, आहार बिना वह जीवन में॥३५॥

करके कषाय का त्याग जीव, भन्ते ! क्या जग में है पाता?
कषाय त्यागी जन जग में, है वीतराग का पद पाता॥
वीतरागता को पाकर, वह हर्ष शोक से बच जाता।
होकर अजातरिपु इस जग में, सुख-दुख में सम मन हो जाता॥३६॥

भन्ते ! योग त्यागकर प्राणी, क्या इस जग में है पाता?
योग त्याग से आत्म अकंपन, तुम मन में कम्प नहीं करता॥
जीव अयोगी नव कर्मों का, कभी नहीं करता अर्जन।
कर देता है क्षीण पूर्व, अर्जित कर्मों को भी तत्क्षण॥३७॥

भन्ते ! देह त्याग से प्राणी, क्या इस जग में है पाता?
मुक्तात्मा के अतिशय गुण को, इसके द्वारा वह पा जाता॥

३० : तपोमार्ग गति

जैसे राग द्वेष से संचित, पाप कर्म को मुनि तप से।
करता क्षीण एक मन कर, श्रवण करो तुम वह मुझसे ॥१॥

हिंसा झूठ तथा चोरी, धन संग्रह एवं मैथुन से।
होता आस्रव रहित जीव, रजनी में भोजन विरमण से ॥२॥

पंच समिति से समित गुप्त, अकषाय जितेन्द्रिय गर्वरहित।
हो जाता है जीव अनास्रव, कर अपने को शल्य रहित ॥३॥

इनसे उलट कर्म करके, जो राग द्वेष से बन्ध किया।
करता क्षीण भिक्षु जैसे, सुन मैंने प्रभु से धार लिया ॥४॥

जैसे बड़े जलाशय का, कर द्वार-बन्द जल आगम का।
रवि तापयाकि उत्सेचन से, क्रम से शोषण होता जल का ॥५॥

ऐसे ही संयत पुरुषों के, पापास्रव के रुक जाने से।
संचित करोड़ भव कर्म राशि, होती विनष्ट तप साधन से ॥६॥

तप दो प्रकार का बतलाया, बाह्याभ्यन्तर जानो ऐसे।
षड्विधि का बाह्य कहा तप है, आभ्यन्तर भी समझो वैसे ॥७॥

अनशन एवं ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या रस-परित्वर्जन।
कायक्लेश संलीन भाव, षट्भेद बाह्य तप के साधन ॥८॥

सावधिक और निरवधि ऐसे, अनशन द्विविधि का बतलाया।
सावधि कहा तप अल्पकाल, निरवधि दूसरा बतलाया ॥९॥

अथवा पहर तीसरी के, कुछ शेष रहे भिक्षा लेवे।
चतुर्भाग हो शेपकाल, ऊनोदर तप मुनिवर सेवे ॥२१॥

यदि दाता नर वा नारी हो, भूषण सज्जित या अनलंकृत।
हो अमुक अवस्था का धारी, या अमुक वस्त्र से हो संयुत ॥२२॥

अमुक दशा या वर्ण भावयुत, ग्रहण करूँ जो दे दाता।
ऐसी चर्या वाले मुनि का, भावोनोदर तप है होता ॥२३॥

द्रव्य क्षेत्र और काल भाव में, कहे गये जो भाव यहाँ।
उनसे ऊन विचरता वह, पर्यवचारी मुनि गिनो वहाँ ॥२४॥

आठ भेद के गोचराग्र, यों सात एपणाएँ गाई।
और अन्य अभिग्रह जो ऐसे, भिक्षाचर्या हैं कहलाई ॥२५॥

दूध दही घृत आदि तथा, अतिशय प्रणीत पानक भोजन।
रस वाले द्रव्यों का वर्जन, तप कहलाता है रस वर्जन ॥२६॥

वीरासन आदिक आसन जो, है मानव के हित सुखदाई।
करें उग्र आसन धारण, तन क्लेश तपस्या बतलाई ॥२७॥

एकान्त तथा आपात रहित, स्त्री पशु पंडक से शून्य स्थल।
शयनासन का सेवन करना, तप साधन हेतु कहा निर्मल ॥२८॥

बहिरंग तपस्या को षड्विध, संक्षिप्त रूप से बतलाया।
अन्तर के तप को कहता अब, सुनलो क्रम से तुम सुखदाया ॥२९॥

प्रायश्चित्त[1] विनय वैयावृत्त्य, चौथा है स्वाध्याय प्यारा।
ध्यान और व्युत्सर्ग नाम, आभ्यन्तर तप भव-अन्तकारा ॥३०॥

१ भव-अन्तकारी तप के भेद।

३१ : चरण विधि

चरण मार्ग का कथन करूँ मैं, जो जीवों को सुखदायी।
जिसका कर आचरण बहुत जन, तिरे भवोदधि दुःखदायी ॥१॥

करे एक से विरति और, शुभ एक प्रवर्तन सुखकर है।
हो दूर असंयम वर्तन से, संयम में चलना हितकर है ॥२॥

राग-द्वेष दो मूल पाप हैं, इनसे पापकर्म बढ़ते।
इनका जो मुनि रुँधन करते, वे न जगत् में हैं रहते ॥३॥

गौरव दंड शल्य तीनों, ये त्रिविध भेद कर बतलाये।
वर्जन इनका जो करे सदा, वह भिक्षु न जग में रह पाये ॥४॥

देव तथा तिर्यंच मनुज कृत, उपसर्गों को जो सहता।
नित्य सहन करने वाला, वह भिक्षु नहीं जग में रहता ॥५॥

विकथा कषाय एवं संज्ञा, और आर्त रौद्र वर्जन करना।
जो इन्हें दूर मन से करता, वह भिक्षु नहीं जग में रहता ॥६॥

इन्द्रिय विषय क्रियावर्जन में, समिति व्रतों के पालन में।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न वह रहता जग में ॥७॥

उनतीस पाप प्रसंगों में, और तीस मोह के स्थानों में।
नित्य यत्न जो करता है, वह भिक्षु न रहता है जग में ॥१९॥

सिद्धादिक गुण योगों में, तैंतीस आसातन स्थानों में।
नित्य यत्न जो करता है, वह भिक्षु न रहता है जग में ॥२०॥

इस प्रकार इन स्थानों में, जो भिक्षु सदा श्रम करता है।
वह पण्डित शीघ्र सकल जग के, बन्धन से विमुक्त हो जाता है ॥२१॥

कब कैसे किंचित् सुख होगा, जो नर है रूपासक्त यहाँ।
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमें भी पाता सौख्य कहाँ ॥३२॥

यों द्वेष रूप में जो करता, नानाविध दुःख वह पाता है।
द्वेषी कर्मों का बन्ध करे, फल उसका दुःखमय होता है ॥३३॥

हो शोक-रहित जो रूप विरत, विधविध दुःखों से लिप्त नहीं।
भव पुष्करिणी में शतदलसम, अघ जल से पाता लेप नहीं ॥३४॥

शब्द श्रोत्र का विषय, रागका हेतु मनोज्ञ कहा जाता।
है द्वेष हेतु अमनोज्ञ उभय में, वीतराग सम हो रहता ॥३५॥

शब्दों का ग्राहक श्रोत्र कहा, है शब्द श्रोत्र का ग्रहण बड़ा।
वह राग हेतु समनोज्ञ और, अमनोज्ञ दोष का हेतु कड़ा ॥३६॥

शब्दों में आसक्त तीव्र, बिन समय नाश वह है पाता।
रागातुर मुग्ध हरिण जैसे, वह निधन तृप्ति बिन है पाता ॥३७॥

प्रतिकूल शब्द में तीव्र दोष, करता तत्क्षण वह दुःख पाता।
है उसका दुर्दम दोष हेतु, अपराध शब्द ना कुछ करता ॥३८॥

अतिरिक्त रुचिर शब्दों में जो, प्रतिकूलों में वह रोप धरे।
वह बाल दुःख पीड़ा पाता, मुनि हो विरक्त ना राग करे ॥३९॥

शब्दाभिलाप अनुरागी नर, चर अचर जीव हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को मूढ़ उन्हें, अनुताप्त और पीड़ित करता ॥४०॥

शब्दानुराग और ममता से, उत्पादन भोग तथा रक्षण।
व्यय और वियोग में शोक करे, उपभोग काल ना मन तर्पण ॥४१॥

शब्दार्थ [illegible] से [illegible], आसक्त तोष पाता न कहीं।
[illegible] [illegible], आभी मन में संतोष नहीं ॥४२॥

गन्धानुराग और संग्रह से, उत्पादन रक्षण भोग करे।
व्यय और वियोग से दुःख पावे, ना भोग समय भी तृप्ति धरे ॥५४॥

हो अतृप्त नर गन्ध ग्रहण में, रंजित मन पाता तोप नहीं।
यों असंतोप से दुःखी बना, लोभाकुल हरता द्रव्य वही ॥५५॥

तृष्णावश हार करे चोरी, ना तृप्त गन्ध के पाने में।
पा लोभ बढ़े माया मिथ्या, हो मुक्त नहीं दुःख पाने में ॥५६॥

झूठ बोलते आगे पीछे, अतिदुःखी प्रयोग में होताहै।
यों गन्ध अतृप्त दुःखी आश्रय, बिन परधन सदा चुराता है ॥५७॥

गन्धानुरक्त नर को जग में, कैसे कुछ होता सौख्य यहाँ।
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमें भी पाता सौख्य कहाँ ॥५८॥

यों द्वेप गन्ध में जो करता, नानाविध दुःख वह पाता है।
द्वेपी कर्मों का बन्ध करे, फल उसका दुःखमय होताहै ॥५९॥

हो शोक रहित जो गन्ध विरत, विधविध दुःखोंसे लिप्त नहीं।
भव पुष्करिणी में शतदलसम, अघजल से पाता लेप नहीं ॥६०॥

जिह्वा का रस विपय राग, का हेतु मनोज्ञ कहा जाता।
है द्वेप हेतु अमनोज्ञ उभय, में वीतराग सम हो रहता ॥६१॥

रसना रसभाव ग्रहण करती, रस रसना का है ग्राह्य महा।
समनोज्ञ राग का हेतु और, है दोप हेतु अमनोज्ञ कहा ॥६२॥

शुभ रस में जो आसक्त मनुज, बिन समय नाश है वह पाता।
रागातुर मांस विदीर्ण देह, ज्यों मत्स्यमांस कनि दुःख पाता ॥६३॥

जो तीव्र द्वेष अति दोष करे, उस क्षण में वह दुःख पाता है।
दुर्दान्त निजी दूषण से ही, अपराध नहीं रस करता है ॥६४॥

त्रस स्थावर सूक्ष्म तथा बादर, जीवों की हिंसा होती है।
कार्य अतः ना करने की, संयत की इच्छा होती है ॥९॥

ही भोजन-पानी के, पाचन-बोवन में वध होते।
एव जन्तु की दया हेतु, मुनि पाक करे ना करवाते ॥१०॥

जल धान्याश्रित जीव कई, पृथ्वी और काष्ठाश्रित होते।
भक्त पान में मरते हैं, यों जान भिक्षु ना पकवाते ॥११॥

रणशील सब ओर धार, वह जीव विनाशक है पावक।
कभी जलाये भिक्षु अग्नि, है शस्त्र न अग्नि तुल्य घातक ॥१२॥

र्ण रजत व्यवहार नहीं, भिक्षुक मन से ना चाह करे।
ग काँचन मिट्टी सम माने, क्रय विक्रय में ना चित्त धरे ॥१३॥

करते क्रेता होता है, विक्रय से वणिक् कहा जाता।
विक्रय में रहने वाला, वैसा न भिक्षु है कहलाता ॥१४॥

क्षा है योग्य, न क्रय करना, है भैक्ष्यवृत्ति भिक्षुक होता।
सदायी भिक्षा वृत्ति कही, क्रय विक्रय महादोष होता ॥१५॥

मुहिक घर में स्वल्प स्वल्प, सूत्रानुसार निन्दा विरहित।
तुष्ट अलाभ-लाभ में हो, मुनि भोजनहित विचरे उच्छित ॥१६॥

में लोलुपता गृद्धि नहीं, और स्वाद विजय मूर्छाविरहित।
स्वाद हेतु भोजन करना, निर्वाह हेतु खाता संयत ॥१७॥

र्चना और रचना वन्दन, सत्कार मान ऋद्धि पूजन।
[illegible]

३६ : जीवाजीव-विभक्ति

जीवाजीव के प्रविभागों को, एकाग्रचित्त हो श्रवण करें।
इन दोनों को जान श्रमण, सम्यक् संयम में यत्न करें ॥१॥

है जीव और जड़ द्रव्य दूसरा, लोक यही जिन बतलाया।
है द्रव्य-अजीव का देश गगन, उसको अलोक प्रभु ने गाया ॥२॥

द्रव्य क्षेत्र और काल भाव से, वर्णन इनका होता है।
जड़ चेतन दो प्रमुख द्रव्य, जग का कारण कहलाता है ॥३॥

रूपी और अरूपी यों, दो भेद अजीव के होते हैं।
रूपी के हैं चार, अरूपी, दश प्रकार के होते हैं ॥४॥

धर्मास्तिकाय और देश तथा, प्रदेश भेद है बतलाया।
ऐसे अधर्म और देश तीसरा, उसका प्रदेश भी है गाया ॥५॥

नभ द्रव्य तथा है देश और, प्रदेश तीसरा बतलाये।
अद्धा काल एक यों मिलकर, भेद अरूपी दश गाये ॥६॥

धर्म, अधर्म-काय ये दोनों, लोक प्रमित बतलाये हैं।
लोकालोक गगनव्यापी, नरलोक काल कहलाये हैं ॥७॥

धर्म अधर्म और गगन द्रव्य, तीनों अनादि से कहलाते।
सदा काल रहने से इनको, अन्त रहित हैं बतलाते ॥८॥

सन्तति को पाकर काल द्रव्य, ऐसे अनन्त कहलाता है।
स्थिति विशेष के कारण से, वह सादि सान्त भी होता है ॥९॥

शीत उष्ण है स्पर्श और, चिकने-रूखे भी जग जाने।
यों स्पर्श भाव से परिणत पुद्गल, कहे शास्त्र में मनमाने ॥२०॥

संस्थान-भाव-परिणत पुद्गल, पाँच भेद के बतलाये।
परिमण्डल वृत्त त्रिकोण तथा, आयत चतुरस्र यों कहलाये ॥२१॥

कृष्ण वर्ण का जो पुद्गल है, द्विविध गन्ध से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों के, विविध भाव से बदल रहा ॥२२॥

नील वर्ण का जो पुद्गल, है द्विविध गन्ध से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों के, विविध भाव से बदल रहा ॥२३॥

रक्त वर्ण का जो पुद्गल, है द्विविध गन्ध से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों के, विविध भाव से बदल रहा ॥२४॥

पीत वर्ण का जो पुद्गल, द्विविध गन्ध से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों के, विविध भाव में बदल रहा ॥२५॥

श्वेत वर्ण का जो पुद्गल है, द्विविध गन्ध से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों से, विविध भाव में बदल रहा ॥२६॥

सुरभि गन्ध का जो है पुद्गल, वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों से, विविध भाव में बदल रहा ॥२७॥

अशुभ गन्धयुत जो पुद्गल है, वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श और रस संस्थानों से, विविध भाव में बदल रहा ॥२८॥

तिक्त स्वाद का जो पुद्गल है, वर्ण भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध या संस्थानों से, वह विविध भाव में बदल रहा ॥२९॥

वादर-पर्याप्त जलकाय जीव, हैं पाँच भेद प्रभु ने गाये।
शुद्ध उदक और अवश्याय, हरतनु महिका हिम कहलाये ॥८५॥

सूक्ष्म एकविध भेद नहीं, इसमें आगम बतलाता है।
सम्पूर्ण लोक में व्याप्त सूक्ष्म, वादर एकांश में रहता है ॥८६॥

प्रवाह से वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित भी होते हैं।
स्थिति को लेकर ये आदि सहित, और अन्त युक्त भी होते हैं ॥८७॥

सात सहस्र वर्षों की होती, उत्कृष्ट आयु जल जीवों की।
अन्तर्मुहूर्त की कम से कम, होती स्थिति वादर जीवों की ॥८८॥

उत्कृष्टा स्थिति असंख्यकाल, स्थिति मुहूर्त भीतर न्यून कही।
जलकाय भाव को बिन त्यागे, काय स्थिति इतनी मान्य रही ॥८९॥

अनन्तकाल का है अन्तर, उत्कृष्ट न्यून भीतर घटिका।
जलकाय भाव में आने का, अन्तर इतना जल जीवों का ॥९०॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भाव से है जानो।
यों भेद विविध जल जीवों के, होते सहस्राधिक मानो ॥९१॥

हैं जीव वनस्पति युगल भेद, वादर वा सूक्ष्म कहे जाते।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद, फिर इनके भी दो-दो होते ॥९२॥

वादर पर्याप्त वनस्पति के, दो भेद शास्त्र बतलाते हैं।
हैं एक साधारण तन वाले, प्रत्येक दूसरे होते हैं ॥९३॥

प्रत्येक शरीरी वनकायिक, नाना प्रकार के बतलाये।
तरु गुच्छ गुल्म एवं लतिका, वल्ली तृण जग में लहराये ॥९४॥

लता वलय पर्वज एवं, भू-फोड़ कमल औषधि पाया।
हरितकाय तृण ये सब हैं, प्रत्येक शरीरी वनकाया ॥९५॥

बादर-पर्याप्त जलकाय जीव, हैं पाँच भेद प्रभु ने गाये।
शुद्ध उदक और अवश्याय, हरतनु महिका हिम कहलाये ॥८५॥

सूक्ष्म एकविध भेद नहीं, उसमें आगम बतलाता है।
सम्पूर्ण लोक में व्याप्त सूक्ष्म, बादर एकांश में रहता है ॥८६॥

प्रवाह से वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित भी होते हैं।
स्थिति को लेकर ये आदि सहित, और अन्त युक्त भी होते हैं ॥८७॥

सात सहस्र वर्षों की होती, उत्कृष्ट आयु जल जीवों की।
अन्तर्मुहूर्त की कम से कम, होती स्थिति बादर जीवों की ॥८८॥

उत्कृष्टा स्थिति असंख्यकाल, स्थिति मुहूर्त भीतर न्यून कही।
जलकाय भाव को बिन त्यागे, काय स्थिति इतनी मान्य रही ॥८९॥

अनन्तकाल का है अन्तर, उत्कृष्ट न्यून भीतर घटिका।
जलकाय भाव में आने का, अन्तर इतना जल जीवों का ॥९०॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भाव से है जानो।
यों भेद विविध जल जीवों के, होते सहस्राधिक मानो ॥९१॥

हैं जीव वनस्पति युगल भेद, बादर वा सूक्ष्म कहे जाते।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद, फिर इनके भी दो-दो होते ॥९२॥

बादर पर्याप्त वनस्पति के, दो भेद शास्त्र बतलाते हैं।
है एक साधारण तन वाले, प्रत्येक दूसरे होते हैं ॥९३॥

प्रत्येक शरीरी वनकायिक, नाना प्रकार के बतलाये।
तरु गुच्छ गुल्म एवं लतिका, वल्ली तृण जग में लहराये ॥९४॥

नाना वलय पर्वज एवं, भू-फोड़ कमल औषधि पाया।
हरितकाय तृण ये सब हैं, प्रत्येक शरीरी वनकाया ॥९५॥

तेजो वायु और उदारतन, ये त्रिविध भेद त्रस जीवों के।
मैं भेद बताऊँ आगम से, तुम श्रवण करो उन जीवों के ॥१०७॥

द्विविध जीव हैं तेज काय के, सूक्ष्म और बादर जानो।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद से, फिर दो-दो इनको मानो ॥१०८॥

बादर जो पर्याप्त तेज हैं, भेद अनेकों बतलाये।
अंगारा मुर्मर अग्नि और, ज्वालार्चि रूप भी कहलाये ॥१०९॥

उल्का विद्युत् आदि अनेकों, भेद अग्नि के कहलाये।
सूक्ष्म एकविध भेद नहीं, उनके सूत्रों में बतलाये ॥११०॥

सम्पूर्ण लोक में व्याप्त सूक्ष्म, बादर सर्वत्र नहीं होते।
अब कालविभागचतुर्विध उनका, कहूँ सूत्र जो बतलाते ॥१११॥

सन्तति की दृष्ट्या सब प्राणी, आद्यन्त रहित भी होते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर, आद्यन्त सहित हो जाते हैं ॥११२॥

अन्तर्मुहूर्त की न्यूनस्थिति, तेजस्कायिक की होती है।
उत्कृष्ट तीन दिन रात्रिमान, की आयु स्थिति हो जाती है ॥११३॥

असंख्य कालपरिमिततेजस की, परम काय स्थिति होती है।
अग्निकाय भव बिन त्यागे, स्थितिन्यून मुहूर्त कम होती है ॥११४॥

अनन्त काल अन्तर होता, उत्कृष्ट न्यून घटिकार्ध मान।
निज काय त्यागकर तेजस का, इतना अन्तर का काल जान ॥११५॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भाव से जो होते।
तेजस्कायिक उन जीवों के, हैं भेद सहस्रों हो जाते ॥११६॥

पल्लोय अणुल्लक तथा, यहाँ जो प्राप्त वराटक होते हैं ।
जालक जलौक और चन्दनियाँ, के रूप जीव कई होते हैं ॥१२९॥

इस तरह अनेकों भेद यहाँ, द्वीन्द्रिय प्राणी के होते हैं ।
सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं, ये एक भाग में होते हैं ॥१३०॥

सन्तति दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते हैं ।
स्थिति को लेकर वे ऐसे ही, आद्यन्त सहित भी होते हैं ॥१३१॥

बाहर वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति, बतलाई द्वीन्द्रिय प्राणी की ।
अन्तर्मुहूर्त का न्यून काल, बिन त्यागे होती उस भव की ॥१३२॥

संख्येय काल है परम स्थिति, अति न्यूनमुहूर्त के भीतर की ।
बिन त्यागे बेइन्द्रिय भव को, कायस्थिति द्वीन्द्रिय जीवों की ॥१३३॥

अनन्तकाल अन्तर होता, अन्तर्मुहूर्त अतिन्यून कहा ।
बेइन्द्रिय जीवों का इतना, परकाय भ्रमण का काल रहा ॥१३४॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, संस्थान भाव से कहलाते ।
बेइन्द्रिय जीवों के जग में, यों भेद सहस्रों हो जाते ॥१३५॥

होते जो त्रीन्द्रिय जीव यहाँ, वे द्विविध शास्त्र में बतलाये ।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद को, मुनो शास्त्र में यों गाये ॥१३६॥

कुंथु पिपीलिका या खटमल, मकड़ी दीमक और तृणखादक ।
काष्ठाहार तथा मालुक, यों त्रीन्द्रिय जान पत्र भक्षक ॥१३७॥

कर्पासास्थि मिंज तिन्दुक, ऐसे ही [illegible] जानो ।
[illegible] और [illegible] [illegible] में त्रीन्द्रिय [illegible]

मनुज भेद दो होते हैं, उनको मैं कहता सुन लेना।
सम्मूर्छिम एवं गर्भ जन्म, यों मुख्य भेद बतला देना ॥१६५॥

गर्भविक्रान्त मानव प्राणी, के तीन भेद बतलाये हैं।
भोगभूमि और कर्मभूमि, अन्तरद्वीपज कहलाये हैं ॥१६६॥

पन्द्रह कर्मधरा के नर, और तीस अकर्म भू के होते।
द्वीपज के दो भेद अठाईस, उनकी संख्या श्रुतधर गाते ॥१६७॥

सम्मूर्छिम मनुजों के ये ही, हैं भेद शास्त्र में बतलाये।
सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं, लोकैक भाग में कहलाये ॥१६८॥

सन्तति दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त सहित भी होते हैं ॥१६९॥

तीन पल्य परिमित आयु, उत्कृष्ट मनुज की बतलाई।
न्यूनातिन्यून अवधि उनकी, अन्तर्मुहूर्त की समझाई ॥२००॥

तीन पल्य पर कोटि पूर्व, प्रत्येक काय स्थिति होती है।
न्यूनावधि नर जीवन की, अन्तर्मुहूर्त रह जाती है ॥२०१॥

मनुज भाव की कायस्थिति, बतलाई अन्तर यह होता।
अन्तर्मुहूर्त होता जघन्य और, अनन्त काल अति हो जाता ॥२०२॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, संस्थान भाव से हो जाते।
मानव जीवों में इस जग में, यों भेद सहस्रों बन जाते ॥२०३॥

देव चतुर्विध कहलाये, सुन लेना उनको मैं कहता।
भौमेय और व्यन्तर ज्योतिष, वैमानिक चौथा सुर होता ॥२०४॥

देव-भवनवासी दशविध, व्यन्तर के आठ भेद होते।
ज्योतिष्क देव के पंच भेद वैमानिक द्विविध बतलाते ॥२०५॥

लोकैकदेश में वे रहते, स्वर्गीय परम सुख के भागी।
मैं करूँ चतुर्विधकाल भाग से, उनका वर्णन यश भागी ॥२१७॥

सन्तति की दृष्ट्या ये सुरगण, आद्यन्तरहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त रहित भी होते हैं ॥२१८॥

होती साधिक एक उदधि, उत्कृष्ट आयु भौमेयों की।
दश सहस्र वत्सर की जघन्य, कालावधि उनके जीवन की ॥२१९॥

व्यन्तर देवों की न्यूनस्थिति, दश सहस्र वत्सर होती है।
उत्कृष्ट एक पल्योपम की, कालावधि उनकी होती है ॥२२०॥

उत्कृष्ट पल्य और लाख वर्ष, परमा स्थिति ज्योतिर्धर सुर की।
पल्योपम अष्टांश आयु स्थिति, होती जघन्य उन देवों की ॥२२१॥

सौधर्म देवकी आयु स्थिति, होती जघन्य पल्योपम की।
उत्कृष्ट रूप में बतलाई, कालावधि दो सागर की ॥२२२॥

साधिक सागर दो की आयु, उत्कृष्ट रूप में बतलायी।
ईशानकल्प में न्यून आयु, साधिक पल्योपम समझायी ॥२२३॥

उदधि मान परिमाण आयु, उत्कृष्ट रूप में बतलायी।
सनत्कुमार में दो सागर, न्यूनस्थिति आयु समझायी ॥२२४॥

साधिक सागर सात आयु, उत्कृष्ट काल है बतलाया।
माहेन्द्र कल्प में दो सागर, साधिक जघन्य भी समझाया ॥२२५॥

दश सागर परिमित होती है, उत्कृष्ट ब्रह्मवासी सुर की।
है सागर सात जघन्य आयु, बतलायी श्रुत में संयम की ॥२२६॥

सागर चौदह की बतलाई, उत्कृष्ट आयु लान्तक सुर की।
एवं जघन्य दश सागर की, होती है जीवनायु उनकी ॥२२७॥

सागर अट्ठाईस-कालमान, उत्कृष्ट षष्ठ ग्रैवेयक का ।
सागर सत्ताईस का जघन्य, उसमें बसने वाले सुर का ॥२३९॥

सागर उनतीस का कालमान, उत्कृष्ट सप्त ग्रैवेयक का ।
सागर अट्ठाईस का जघन्य, उसमें बसने वाले सुर का ॥२४०॥

उत्कृष्ट तीस सागर जानो, अष्टम ग्रैवेयक आयुमान ।
उनतीस सागरोपम होता, अतिन्यूनआयु लो उनका जान ॥२४१॥

सागर इकतीस का कालमान, उत्कृष्ट नवम ग्रैवेयक का ।
होता है न्यून तीस सागर, उसमें बसने वाले सुर का ॥२४२॥

सागर तैंतीस का आयुमान, उत्कृष्ट रूप विजयादिक का ।
और चारों लोकों में इकतीस, सागर है न्यून कहा सुर का ॥२४३॥

ना न्यूनाधिक का आयुमान, सागर तैंतीस का बतलाया ।
महाविमान सर्वार्थसिद्ध का, कालमान प्रभु ने गाया ॥२४४॥

जितनी होती है आयु स्थिति, सुर भव में सारे देवों की ।
वही न्यून उत्कृष्ट कही, कायस्थिति भी उन अमरों की ॥२४५॥

होता जघन्यतः कालान्तर, अन्तर्मुहूर्त उन जीवों का ।
उत्कृष्ट अनन्त काल होता, अन्तर सुर भव में आने का ॥२४६॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, संस्थान भाव से हो जाते ।
स्वर्गलोक के देवों में यों, भेद सहस्रों बन जाते ॥२४७॥

संसारी और सिद्ध भेद से, ये जीव युगल कहलाते हैं ।
होते अजीव के युगल भेद जो, मूर्तामूर्त कहाते हैं ॥२४८॥

यों जीव अजीवों का वर्णन, सुन मन में शुभ श्रद्धान करे ।
[illegible] संयम से मुनिवर [illegible] ॥२४९॥

बालमरण कई बार किये, अज्ञानमरण भी कई पाये।
जो जिन-वचनों के अज्ञानी, मर मर भव वन गोता खाये ॥२६१॥

विविध शास्त्र के जो ज्ञाता, गुणग्राही जो असमाधि हरे।
उपरोक्त गुणों से युक्त योग्य, आलोचन सुन मन ग्रहण करे ॥२६२॥

कन्दर्प कुचेष्टा और शील, सद्भाव हास्य उपहास कथा।
पर जनमन को विस्मित करता, कन्दर्प भावरत रहे वृथा ॥२६३॥

मंत्र योग करके जग में, जो भूमि कर्म उपयोग करे।
सातारसर्द्धि के हेतु करे, अभियोग भाव को प्राप्त करे ॥२६४॥

ज्ञान केवली धर्मगुरु, और सब चतुर्विध दोष कहे।
मायी अवर्णवादी एवं, किल्विषी देव अपमान सहे ॥२६५॥

जो क्रोध भाव की वृद्धि करे, और व्यर्थ निमित्तक वचन करे।
महिमावर्द्धक इन कामों से, आसुरी भाव को प्राप्त करे ॥२६६॥

शस्त्र ग्रहण या विष भक्षण, पावक जल में तन नाश करे।
जो अनाचार सेवन करता, वह जन्म मरण की वृद्धि करे ॥२६७॥

ज्ञातपुत्र निर्वृत ज्ञानी, प्रभु ने यों तत्त्व विचार किया।
षट्त्रिंश श्रेष्ठ अध्ययनों का, भवसिद्धिक सम्मत ज्ञान दिया ॥२६८॥

अध्ययन	पृष्ठ	पद	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३	४८	११	१	शेम	शुभ
१४	५२	१२	१	० त्राण	न त्राण
१४	५२	१४	१	अनिवृत्त	अनिवृत्त
१४	५३	२६	२	ठंडा	ठूंठा
१४	५४	३०	२	व्यक्त	त्यक्त
१५	५७	४	२	हृष्ट	हृष्ट
१६	६१	५	४	तारी	नारी
१६	६३	८	३	भोलन	भोजन
१६	६४	११	४	धर्मं	धर्मं को
१६	६५	३	२	सुनि	मुनि
१७	६८	१२	२	युक्त	युत्
१८	७०	१६	२	हृष्ट	हृष्ट
१८	७२	३५	१	कारत	भारत
१८	७२	४३	१	महस्रा	सहस्र
१८	७३	४४	२	जन	मन
१८	७३	४६	१	करकण्डक	करकण्डू
१८	७४	५३	२	भार	पार
१९	७५	२	१	वालश्री	वलश्री
१९	७६	१०	१	है	०
१९	७७	२४	२	करते	करने
१९	७९	४१	१	गिरवर	गिरिवर
१९	७९	४६	१	क्रदन	क्रन्दन
१९	८०	५५	२	में	मैं
१९	८०	५८	२	में	मैं
१९	८१	६२	२	मैं	था
१९	८१	६५	१	अनन्तीवार	अनन्तोदार
१९	८१	६६	१	वार्द्धिक	वार्द्धक
१९	८२	७६	२	मन में	मन को
१९	८२	८१	१	मानता है	मनाता है
२०	८३	१५	१	[illegible]	[illegible]